BP

RS.

GENERAL
COMPUTER FOR EVERYBODY
UNDERSTANDING COMPUTERS
HOW TO CARE FOR YOUR COMPUTER
DIGITAL COMPUTER FUNDAMENTALS
INTRODUCTION TO COMPUTER SCIENCE (CBSE-XI)
TROUBLESHOOTING, REPAIRING PERSONAL COMPUTERS

MICROPROCESSORS
AN INTRODUCTION TO MICROPROCESSORS
MICROPROCESSORS INTERFACING TECHNIQUES

80386 & HARDWARE
TOWER'S INTER. MICROPROCESSOR SELECTOR
PROGRAMMING THE 80386

BASIC
YOUR FIRST BASIC PROGRAM
BASIC: WORKBOOK
BASIC: STEP BY STEP PROGRAMMING

PASCAL
PASCAL: AN INTRODUCTION

TURBO PASCAL
TURBO PASCAL LIBRARY
MASTERING TURBO PASCAL
ADVANCED TECHNIQUES IN TURBO PASCAL

COBOL
COBOL: LANGUAGE OF BUSINESS

TURBO C
MASTERING TURBO C

C
UNDERSTANDING C
C PROGRAMMERS UTILITIES LIBRARY
ADVANCED C TECH. & APPLICATIONS
DEBUGGING C

DESKTOP PUBLISHING
MASTERING PAGEMAKER ON-IBM PC
MASTERING VENTURA

HARD-DISK
POWER USER'S GUIDE TO HARD-DISK MANA
MANAGING YOUR HARD DISK

MS-DOS
MS-DOS HANDBOOK
USING PC-DOS
DOS INSTANT REFERENCE
IBM PC-DOS HANDBOOK

UNIX/XENIX
INSIDE XENIX
UNDERSTANDING UNIX
ADVANCED UNIX—A PROGRAMMER'S G

LOTUS 1-2-3
USING 1-2-3

॥ ओ३म् ॥

वक्तव्य

संन्यासाश्रम में प्रवेश के अनन्तर भ्रमण ही करना पड़ा है, अतएव पूर्व की भांति अधिक साधनापेक्षित अनुसन्धानात्मक वेदसम्बन्धी लेखनकार्य तो सर्वथा बन्द हो गया, तब से डेढ़ वर्ष तक किसी भी विषय पर कुछ भी न लिख सका। पुनः अनेक महानुभावों की प्रेरणा से ध्यान आया कि भ्रमण करते हुये भी थोड़ा बहुत जितना समय मिले अल्पसाधनसाध्य उपनिषद् आदि अध्यात्म जैसे-विषय पर कुछ लिखा जावे। अतएव परिणामस्वरूप में "उपनिषद्-सुभासार" यह पुस्तक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

उपनिषदों के वचन वेदान्तवचन या वेदान्तवाक्य कहे जाते हैं। वेद ऋग् यजुः साम और अथर्व हैं, उनका अन्त-सिद्धांत या लक्ष्य है ब्रह्म। कठोपनिषद् में कहा भी है:—"सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति···तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" (कठो[illegible] वेद के अन्तरूप ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में हो[illegible]त्मिक [illegible]शय का वचन वेदान्तवचन एवं वेदान्तवाक्य कह[illegible] लिषद्' शब्द का अर्थ भी ब्रह्मविद्या है। [illegible] यजुर्वेद का [illegible] पाठ भेद तथा अ[illegible] और 'नि' उपसर्गपूर्वक गति-अर्थवा[illegible]

बना है, गति के तीन अर्थ 'ज्ञान-गमन-प्राप्ति' हैं। यहां प्रा
अर्थ अभीष्ट है। "उप-सामीप्येन नि-नितरां सीदन्ति प्राप्नुवन्ति
परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्" अर्थात् समीपता से
(शीघ्र एवं निकट करके) निगूढरूप में तादात्म्यसम्बन्धपूर्वक
(यथार्थ आत्मभाव से) प्राप्त करते हैं, परब्रह्म जिस विद्या-
द्वारा वह 'उपनिषद्' है। अब उपनिषद् का अर्थ हुआ यथार्थ-
रूप से परब्रह्म के समीप पहुँचाने वाली या यथार्थसमीपता
परब्रह्म को प्राप्त करानेवाली विद्या। 'उपनिषद्' शब्द का अ
पारिभाषिक शैली से है रहस्य या परोक्ष, जैसा कि "कौटिल्यार्थ
शास्त्र" में संग्रामार्थ गुप्त प्रयोगों को औपनिषदप्रयोग नाम से
लिखा है। "जीविकोपनिषदावौपम्ये" (अष्टा० १।४।६६) "उपनिष-
त्कृत्य गतः" रहस्य में या परोक्ष में करके अर्थात् छिपा कर
गया। इससे ब्रह्मविद्या ली जा सकती है क्योंकि ब्रह्मविद्या
कोई प्रत्यक्ष विद्या या बाहिरी विद्या नहीं है किन्तु भीतरी
विद्या है।

यद्यपि समस्त उपनिषदें मोक्षप्रद एवं आध्यात्मिक जीवन
के सुधामय--अमृतमय प्रवचनों से परिपूरित हैं तथापि ईश, केन,
...क्य चार उपनिषदें उन सब में अत्यन्त उपादेय और सार-
...एव हमने उक्त चारों उपनिषदों पर ही अनुवाद,
...ख्या, प्रवचन इस 'उपनिषद्--सुधासार' नामक
...प्रत्येक उपनिषद् की भूमिका उस उस

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक।

कुछ शब्द

उपनिषदों
में सर्वप्रथम
"ईशोपनिषद्" है,
कारण कि यह यजुर्वेद
संहिता का चालीसवां
अध्याय है अतएव इसे संहितो-
पनिषद् भी कहते हैं। वाजसनेय
ऋषि द्वारा प्रचार पाने से वाजसनेय-
संहितोपनिषद् और वाजसनेयोपनिषद्
नाम से भी कही जाती है। 'ईशा' तथा
'ईशावास्यम्' शब्द इसके प्रारम्भ में होने से
इसे 'ईशोपनिषद्' और 'ईशावास्योपनिषद्' भी
कहते हैं। उपनिषद् ग्रन्थ वेदों की शाखाएं मानी
जाती हैं क्योंकि इनमें वेद के किसी आध्यात्मिक
प्रकरण या मन्त्र अथवा सिद्धान्त एवं आशय का
व्याख्यान किया गया है। इस ईशोपनिषद्' में यजुर्वेद का
चालीसवां अध्याय क्वचित्-क्वचित् केवल पाठ भेद तथा अन्त

के दो-तीन मन्त्रों में कुछ भेद करके ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन है। इस प्रस्तुत 'ईशोपनिषद् दीपिका' नामक ईशोपनिषद्-भाष्य में मौलिक (मूलमन्त्रों का) विवेचन पाठकों को मिलेगा। मन्त्रों के अन्वयार्थ, स्पष्टीकरण तथा उनके आधार पर 'प्रवचन' भी सुलभबोध एवं रुचिवृद्धि के लिये दिये हैं। कहीं कहीं विशेष वक्तव्य भी शब्दार्थबोध में सुगमता के हेतु दिया गया है।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

॥ ओ३म् ॥

उपनिषद्-सुधासार

ईशोपनिषद्-दीपिका

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(जगत्याम्) समष्टि सृष्टि में (यत् किम्-च) जो कुछ भी (इदं सर्वं जगत्) यह सब जगत्–चल परिणामी कार्यवस्तु-मात्र है, यह (ईशा वास्यम्) [1]ईश्वरद्वारा वास-आवास में अधिकरणीय अर्थात् ईश्वरद्वारा साधिकार वासित और आच्छादित है (तेन) तिस से—ऐसा होने पर—इस कारण (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) हे मनुष्य ! तू [2]त्याग से–वर्जन और निर्लेप भाव से 'उक्त

[1]—ईश्वरेण वसितुं निवसितुं तथा वस्तुमाच्छादयितुमधिकार्यम् ।

[2]—"एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" (ईशोप० २) इस अगले मन्त्र में 'त्वयि ··· नरे" (तुझ नर में) कथन होने से नर अर्थात् मनुष्य का सम्बोधन रखा है ।

जगत् को' भोग। अतः (मा गृधः) मत ललचा—'इस जगत में लिप्त न हो—मत फंस, क्योंकि (धनं कस्य स्वित्) धन—भोग पदार्थ किसका है? सोच, क्या किसी का है अर्थात् किसी का न हुआ न है और न होगा॥

स्पष्टीकरण—मन्त्र में 'वास्यम्' शब्द 'वस' धातु से बना हुआ है 'वस' धातु निवास और आच्छादन अर्थों में है "वस निवासे" (भ्वादि,) 'वस आच्छादने" (अदादि०) यहां श्लेषालङ्कार से दोनों अर्थ हैं। यह समस्त विश्व ईश्वरद्वारा साधिकार वासित और आच्छादित है। मनुष्य का किसी घर में साधिकार वास नहीं होता, वह घर उससे कभी छूट सकता है छिन्न सकता है नष्ट होकर भी अलग हो सकता है, वसते हुए भी मनुष्य घर में निरन्तर नहीं वसता है कभी घर में कभी बाहिर, तथा घर के एक देश में ही अपने शरीर को रख सकता है समग्र घर में नहीं। वह चेतनदेव परमात्मा समस्त विश्व में साधिकार वसा हुआ है एक अणु-परमाणु भी उसके वास से रिक्त नहीं—रहित नहीं तथा वह इसे साधिकार आच्छादित भी किए हुए है, वह समस्त विश्व के अणु-अणु में रहता हुआ इसके बाहिर भी अनन्तरूप से वर्तमान है, जैसे अथाह जल में पड़ा अल्प वस्त्र जल से आच्छादित होता है, जल उस वस्त्र के तन्तु-तन्तु में रहता हुआ वस्त्र से बाहिर भरा पड़ा है। इसी प्रकार यह समस्त विश्व उस अनन्त देव परमात्मा का 'वास्य' अर्थात् 'व्याप्य' बना

हुआ है और वह परमात्मा इसके अन्दर-बाहिर व्यापक है।

२—मन्त्र के पूर्व भाग में 'ईशा, वास्यम्, जगत्याम्, जगत्' इन चार शब्दों से परमात्मा और विश्व (जगत्) का वर्णन तथा दोनों का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया गया है, वह इस प्रकार कि 'ईशा' शब्द से परमात्मा इस समस्त विश्व का 'स्वामी' (मालिक) है तब यह विश्व उसका 'स्व' (मिलकियत) है। 'वास्यम्' शब्द से यह विश्व उसका 'वास्य' अर्थात् व्याप्य है तो वह परमात्मा व्यापक हुआ। 'जगत्याम्' शब्द भिन्न भिन्न जगतों—वस्तुओं लोकों पिण्डों ब्रह्माण्डों का एकसूत्री-लड़ी-माला की भांति जगती में अर्थात् समष्टि सृष्टि में नियमित या नियन्त्रित होना परमात्मा को एकसूत्रीकर्ता—नियन्ता सिद्ध करता है और विश्व नियम्य ठहरता है। 'जगत्' शब्द से समस्त विश्व गतिमय-चल परिणामी विकारी कार्यरूप होंने से कर्ता परमात्मा सिद्ध होता है और विश्व कार्य ठहरता है। इस विवेचन से विश्व और परमात्मा का 'स्व-स्वामी, व्याप्य-व्यापक, नियम्य-नियन्ता, कार्य-कर्ता' सम्बन्ध स्पष्ट होता है, अतएव परमात्मा इस विश्व का स्वामी, व्यापक, नियन्ता और कर्ता हुआ।

३—एक मनुष्य केवल एक घर का स्वामी है दूसरा एक ग्राम का स्वामी है तीसरा दश-बीस ग्रामों का स्वामी है और चौथा उस से भी बड़ा पचास सौ ग्रामों का स्वामी है वह राजा कहलाता है अन्य उससे भी बड़े प्रदेश या प्रान्त का स्वामी

महाराजा है, महाराजा से भी बड़ा पृथिवी के इतने बड़े भाग का स्वामी है, जिस के राज्य में सूर्यास्त न हो—कहीं न कहीं अवश्य निकला रहे, वह ऐसा स्वामी सम्राट् (चक्रवर्ती राजा) कहलाता है पुनः सम्राट् से भी बड़ा सारे पृथिवीपृष्ठ का स्वामी परिराट् होता है, पर ऐसा कोई राजा इतिहास में अभी तक नहीं हुआ भविष्य में कोई होसके यह एक चिन्तनीय वस्तु है, परन्तु परमात्मा ऐसा स्वामी है जो समस्त पृथिवीपृष्ठ का ही नहीं किन्तु पृष्ठ से केन्द्र पर्यन्त समस्त पृथिवीगोल का स्वामी है अतएव वह विराट् कहा जा सकता है। इतना ही नहीं किन्तु पृथिवीगोल से भी लाखों गुणा बड़े सूर्य जैसे महागोलों का की भी स्वामी है, अपितु सूर्य से सैंकड़ों और सहस्रां गुणा मुखमात्र किसी-किसी धूमकेतु (पुच्छल तारे) का बतलाया जाता है पुनः उसकी पूंछ का तो ठिकाना ही क्या ? ऐसे बृहत्काय पिण्ड का भी परमात्मा स्वामी है, और उक्त इतना बड़ा धूमकेतु (पुच्छल तारा) केवल छोटे से दण्डेजितना ही अनन्त आकाश में दिखलाई पड़ता है, फिर यह अनन्त आकाश ग्रह-तारों नक्षत्र-सितारों से भरा पड़ा है, इन सब का वह परमात्मा स्वामी है, अन्य असंख्य तारे तो इतने बड़े और इतनी दूर हैं कि जिनका प्रकाश हमारी पृथिवी पर पहुंचने में सैंकड़ों सहस्रों ही नहीं किन्तु लाखों वर्ष तक लगजाते हैं। बहुतेरे तो ऐसे भी तारे और इतनी दूर हो सकते हैं जिनको किसी भी साधन से सम्भवतः हम नहीं देख सकेंगे। इन सब

पर आधिपत्य करने वाला वह इतना बड़ा स्वामी विश्वराट (विश्व का राजा) परमात्मा है।

(ख) वह परमात्मा विश्व का केवल स्वामी ही नहीं है किन्तु इस 'वास्य' अर्थात् व्याप्य विश्व में व्यापक भी है। संसार में स्वामी और स्व की सत्ता अलग अलग देखने में आती है, स्वामी अलग देश में और स्व अलग देश में पाए जाते हैं जैसे—'देवदत्त की गौ' या 'यज्ञदत्त का ग्राम'। यहां देवदत्त और यज्ञदत्त स्वामी हैं तथा गौ और ग्राम स्व हैं किन्तु देवदत्त स्वामी अलग और गौ स्व अलग हैं—अलग अलग देश में हैं एवं यज्ञदत्त स्वामी और ग्राम स्व भी अलग अलग हैं और ग्राम स्व के किसी एक के कोने में यज्ञदत्त रहता है। परन्तु वह विश्वराट् स्वामी परमात्मा विश्व से न अलग और और न हीं उसके एक देश में किन्तु समस्त विश्व में एकरस बसा हुआ और उससे बाहिर भी अनन्तरूप से रमा हुआ होने से विश्वात्मा (विश्व का आत्मा) बना हुआ है। यदि वह केवल पृथिवी-गोल में ही व्याप्त रहता चन्द्र लोक में न होता तो चन्द्र लोक में कैसे अपना स्वामित्व कर सकता, इसी प्रकार पृथिवी और चन्द्रलोक में ही होता सूर्य आदि पिण्डों में न होता तो उनमें कैसे आधिपत्य बना सकता, एवं समस्त आकाशीय पिण्डों या समस्त विश्व में वह परमात्मा बसा हुआ है व्यापक है। वह स्वामी है और व्यापक भी है। केवल स्वामी नहीं अतएव एकदेशी नहीं एवं केवल व्यापक नहीं अतएव आकाश जैसा जड़ पदार्थ नहीं किन्तु चेतन है।

(ग) वह परमात्मा इस विश्व का व्यापक स्वामी ही नहीं किन्तु 'जगत्याम्' शब्द से इसका नियन्ता भी है। एक बालक किसी गेन्द को दोनों हाथों द्वारा पश्चिम से पूर्व को घुमाता है और गेन्द पश्चिम से पूर्व को घूमती है, इस से बालक गेन्द का नियन्ता है एवं यह महान् गेन्द जैसा पृथिवीगोल पश्चिम से पूर्व को निरन्तर घूमता रहता है (दिन-रात को प्रकट करता है) इस इतने बड़े गेन्द को पकड़ घुमाने वाला व्यापक हाथों वाला व्यापक स्वामी परमात्मा है, इस प्रकार वह केवल पृथिवी गोल को ही नहीं किन्तु आकाश के चन्द्र सूर्य आदि अनन्त समस्त ग्रहतारा गोलों को घुमाता रहता है और ऐसे गतिक्रम से घुमाता है कि ये परस्पर सन्निकट गति करते हुए भी न टकरा सकें तथा प्रत्येक को यथावत् और ऐसे अचिन्तनीय सूक्ष्म परिमाण से घुमाता है कि बड़े से बड़ा ज्योतिषी भी उसके समझने में भूल-भ्रान्ति का ग्रास बन जाता है और थक कर अनेक बार कह उठता है कि कोई महान् अदृष्ट देव इन सब गोलों के पीछे इनका नियन्ता अवश्य बना हुआ है। अतएव वह परमात्मा इस विश्व का जहां व्यापक स्वामी है साथ में नियन्ता भी है।

(घ) परमात्मा इस विश्व का व्यापक नियन्ता स्वामी होने के साथ साथ मन्त्र में दिए 'जगत्' शब्द से इसका कर्ता-रचयिता भी सिद्ध होता है। यह जगत् कार्य (की गई-बनी हुई) वस्तु है यह तो स्पष्ट है क्योंकि इसमें कार्य के धर्म पाए जाते हैं। घड़ा एक कार्य वस्तु है किया गया है बनाया गया है,

कुम्हार इसका बनाने वाला या कर्त्ता है। कार्य वस्तु के धर्म हैं उत्पन्न होना कुछ काल स्थिर रहना पुनः नष्ट हो जाना, जैसे—घड़ा उत्पन्न होता है (बनाया जाता है या किया जाता है) कुछ काल ठहरता है फिर नष्ट हो जाता है एवं जगत् या संसार की वस्तुएं उत्पन्न होती हैं कुछ काल स्थिर रहती हैं पुनः नष्ट हो जाती हैं, यह अहर्निश देखने में आता है। घास हो या वृक्ष, क्षुद्र जन्तु हो या सरीसृप, पक्षी पशु या मनुष्य का शरीर अथवा अन्य जड़ पदार्थ हों, अत एव ये सब कार्य हुए। इस प्रकार विश्व का उपर्युक्त अवयव अवयव कार्य है तो यह समस्त विश्व अवयवों का समुदाय भी कार्य सिद्ध होता है कारण कि अवयव में जो धर्म हुआ करता है वह उसके समुदाय में भी मिला करता है। पेंसिल से बने चित्र का कोई अवयव यदि रबर से मिट सकता है तो समुदायरूप समस्त चित्र भी रबर से मिट कर नष्ट हो सकता है, लकड़ी का कोई अवयव अग्नि में जल सकता है तो समुदायरूप समस्त लकड़ी भी अग्नि में जल कर भस्म हो सकती है। अतएव विश्व में कार्य का धर्म पाया जाने से समस्त विश्व कार्य अर्थात् बना हुआ हुआ, सो इसका कर्ता वही व्यापक और नियन्ता स्वामी परमात्मा है। यह तो हुई युक्ति की बात परन्तु साक्षात् भी यह बात सरलता से समझ में आ जाती है, कि इस पृथिवीगोल पर से एक मिट्टी की ढेली को उठावें और देखें तो उसमें अलग अलग कण पाए जाते हैं, उसे बारीक पीस दो और हथेली पर रख कर

फूंक मार दो तो वह उड़कर आकाश में फैल जावेगी परन्तु अब उसे पुनः ढेली का रूप देना मनुष्य की शक्ति से परे हो गया। इससे यहां दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि पृथिवीगोल का एक अवयवरूप ढेली छोटे छोटे कणों से बनी हुई है तब यह समुदाय-रूप पृथिवीगोल महान् ढेला भी छोटे छोटे कणों से बना हुआ है और देखने में पृथिवी में छोटे छोटे कण साक्षात् मिलते भी हैं दूसरे जैसे छोटी सी ढेली के छोटे छोटे कण अलग अलग हो सकते हैं एवं पृथवीरूप महान् ढेले के भी छोटे छोटे कण अलग अलग हो सकते हैं और इस प्रकार महान् ढेले रूप से पूर्व इसके छोटे छोटे कण आकाश में अलग अलग फैले हुए थे, अब सोचें जबकि एक छोटी सी ढेली के (पीस देने पर आकाश में फैले हुए) छोटे छोटे कणों को फिर से ढेली रूप देना मनुष्य की शक्ति से बाहिर है तब पृथिवीरूप महान् ढेले के (इस अवस्था से पूर्व) आकाश में फैले हुए छोटे छोटे कणों—अणुओं को इकट्ठा कर इस महान् ढेले के रूप में बना देना मनुष्य से भिन्न अनन्त-शक्ति वाले चेतन देव का ही काम है अतः यह जगत् उसे सिद्ध करता है जो कि व्यापक नियन्ता स्वामी परमात्मा है। इसी प्रकार पृथिवी से भी लाखों गुणा बड़े सूर्य आदि गोलों को पिण्डरूप देना उसी जगत्कर्त्ता का काम है। पृथिवी आदि समस्त पिण्डों के पदार्थ कणों से बने हुए हैं यह भी सिद्ध हुआ यह उनकी अद्भुत रचना भी उस जगत्कर्ता को दर्शा रही है। मिट्टी की ढेली में कण स्पष्ट दीखते हैं पर पत्थर के टुकड़े में

कण तो दीखते हैं किन्तु ढेली के जैसे स्पष्ट नहीं, सोने चान्दी आदि धातु के टुकड़े में कण कठिनाई से दीखते हैं और पारद (पारे) में तो कणों को न देख सकते हैं न पकड़ ही सकते हैं यहां तो कणों का संगठन अद्भुत ही बना है। हीरा पन्ना आदि रत्नों और मणियों के कण तो आंखों के आगे ठहरते ही नहीं वे तो पारदर्शक पदार्थ हैं—आखों की दृष्टि-शक्ति उनके कण देखने में असमर्थ है—देखने पर तुरन्त उनके पार हो जाती है, यह अद्भुत रचना उस अद्भुत रचयिता की द्योतक है। ऐसे ही पृथिवी के वनस्पति और प्राणी आदि पदार्थों की रचना भी उसकी झलक दिखलाते हैं। आकाशीय अन्य सूर्य आदि गोले भी उस विश्वरचयिता के निश्चायक हैं। सूर्य किरणों, वायु प्रवाह और विद्युत्तरङ्गों की रचना भी अपने रचयिता की महती शक्ति को दर्शा रही हैं। इस प्रकार वह परमात्मा इस विश्व का व्यापक-नियन्ता-कर्त्ता-स्वामी है और यह विश्व उसके व्यापकत्व—नियन्तृत्व—कर्तृत्व और स्वामित्व के अधीन है।

प्रवचन—प्यारे मानव सन्तान ! तू ने नानाविध पार्थिमय संसार में पदार्पण किया, यहां आते ही तेरे अन्दर इसे भोगने की प्रवृत्तियां जागीं इस से यह तो तेरी समझ में आगया ही कि संसार का और तेरा भोग्य-भोक्ता सम्बन्ध है (मन्त्र में 'भुञ्जीथाः'='इसे भोग' यह तुझे भोगने का आदेश दिया है) परन्तु तूने क्या यह सोचा कि जगत् को भोगने के

लिये तेरे अन्दर प्रवृत्तियां क्यों जागीं ?। देख, प्रवृत्तियों के जागने का कारण हुआ करते हैं संस्कार, और तूने तो संसार में नूतन पग रखा है तब संस्कार कहां से आए ? इस प्रकार तेरे अन्दर वर्तमान हुए वे संस्कार तेरे पूर्ववृत्त (पूर्वजन्म) के सूचक हैं ! पुनः जबकि तेरे पुरातन (पूर्वजन्मगत) संस्कारों के वश इस शरीर में भोग की प्रवृत्तियां जागीं तो तू शाश्वत, नित्य एवं अमर चेतन तत्त्व सिद्ध हुआ और जगत् भोग में आजाने के कारण नश्वर और जड़ ठहरा। यह तो हुई तेरी और इस जगत् की बात, अब तू यह सोचने का कष्ट कर कि इस जगत् में तेरे पदार्पण से पूर्व यह जगत् तो था ही तब इसका किसी अन्य के साथ भी सम्बन्ध होसकता है, तेरे साथ तो केवल भोग्य-भोक्ता का ही सम्बन्ध है। जगत् जड़ है अत एव भोगने में तेरी भोक्तृशक्ति के अधीन इसे होना पड़ा तब अन्य प्रकार की अधीनताओं के धर्म भी इस जड जगत् में सम्भावनीय हैं पुनः इसके उन अधीनत्व-धर्मों का अधिकर्ता (अधिकारकर्त्ता) कोई अन्य देव ही हो सकता है जोकि विलक्षण तुझ से भी विशेषशक्तिसम्पन्न, शाश्वत, अमर, चेतन देव होगा। फिर इस जगत् का और उस अमर देव का क्या सम्बन्ध होसकता है यह देखना होगा। जबकि भोक्ता वह नहीं है तो रचिता अर्थात् स्वामी वह अवश्य हुआ, अब सोचना है कि जब तू जगत् में रहता है तो इसके एक देश में, तब वह स्वामी इस समस्त विश्व में ही रह सकेगा एकदेशी न होने

से। फिर जगत् को तूने चौबीस घन्टे ध्यान से देखा होगा तो तूने समझा होगा कि दिन-रात में पृथिवी चन्द्र सूर्य और ग्रहनक्षत्रों की गतियां इस विश्व या जगत् को घडी या कला-यन्त्र (मैशीन) के जैसा सिद्ध करती हैं। तब वह स्वामी और व्यापक चेतन देव इसका नियन्ता भी है ऐसा सिद्ध होजाता है। पुनः जगत् का और भी निरीक्षण कुछ काल या समस्त ऋतुचक्र तक करोगे तो इस में उत्पत्ति-स्थिति-नाश का वस्तु-वस्तु में क्रम पाओगे, उन उत्पत्ति आदि को ऋतु-ऋतु पर देख कर उस स्वामी, व्यापक, नियन्ता अमर देव को उत्पत्ति-कर्त्ता रचयिता या जगत् का निर्माता भी कह सकोगे। किसी भी कलायन्त्र (मैशीनरी) के रूप देने वाले चार संयोजक होते हैं। प्रथम उसके अलग अलग साधनों (पुर्जों) का बनाने वाला शिल्पी-लोहकार (लोहार), दूसरा उन अलग अलग साधनों (पुर्जों) को युक्त (फिटिंग) करने वाला योक्ता (फिटर-मिस्त्री), तीसरा युक्त हुए यन्त्र को ठीक ठीक चलाने वाला नियन्ता (ड्राईवर), चौथा उस चलशक्ति-सम्पन्न यन्त्र का रक्षक स्वामी। सो इस विश्वयन्त्र का कारीगर, फिटर ड्राईवर और स्वामी वह अकेला परमात्मा अपनी कर्तृत्व, व्यापकत्व, नियन्तृत्व और स्वामित्व शक्ति से है। बस यही बात इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कही है। अस्तु।

जबकि इस जगत् का कर्ता-नियन्ता-व्यापक-स्वामी परमात्म-देव है और तू इस का कर्ता नियन्ता व्यापक और स्वामी कुछ

भी नहीं है केवल भोगने वाला है, भोगने मात्र से अधिक तेरा इस के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तब तेरे लिये यह एक प्रश्न है कि क्या इसके भोगने में इतना रत होजावे कि अपने अमरत्व को ही भूल कर जगत् एवं भोग वस्तु के नाश के साथ साथ अपने को भी नष्ट हुआ समझ घोर संकटों में पड़े। नहीं! नहीं !! ऐसा नहीं !!! किन्तु 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' त्याग से भोगने का आदेश यहां दिया है राग से भोगने का नहीं, यही बात 'मा गृधः' मत ललचा ऐसा कहने से और भी स्पष्ट होती है। इस जगत् में तेरे राग का कुछ भी कारण नहीं क्योंकि इसको कितना भी अपनाओ पर यहां अपनाया जाने वाला कुछ भी नहीं है अत एव चेतावनी रूप में कहा है "कस्य स्विद्धनम्" किस का है धन ? अर्थात् किसी का नहीं" इस भोगमय जगत् को कोई भी स्थायीरूप से अपना न बनासका, इस पृथिवी पर बड़े बड़े अभिमानी राजे माहाराजे और सम्राट् आए इसे तथा इसके भोग्य धन को अपनाते अपनाते जीवन बिता गये पर यह किसी का न हुआ। कहा जाता है कि सिकन्दर सम्राट ने सारा जीवन धनैश्वर्य के संग्रह में लगाया पर जब अन्त समय आया तो पछताया कि 'हा! मैंने अपना सारा जीवन इस धनैश्वर्य का संग्रह करने इसे अपनाने में लगाया किन्तु आज इस में से एक पाई भी मेरे साथ नहीं जारही, मेरा जीवन तो इस के पीछे नष्ट हुआ सो हुआ पर मेरी इस घटना से लोग शिक्षा लें इस से बचें अतः मेरे शव को जब दबाने के

लिये लेजावें तो मेरे दोनों हाथ कफन से बाहिर खाली हथेली निकाल कर लेजाना'—

छोड़ दुर्ग रण कोष सभी कुछ रिक्तहस्त है जाता।
चला सिकन्दर कफन से बाहिर दोनों हस्त दिखाता॥

इस जगत् का कोई पदार्थ जब कि न किसी का हुआ न है और न होगा तब इसके भोगों में अपने को अन्धाधुन्ध फंसाना श्रेष्ठ नहीं उचित नहीं। सोच! जो वस्तु तुझ से अल्पकाल में ही अलग होजावेगी फिर उस में मोह कैसा? इस अनित्य में अपने नित्य आत्मा को फंसाने की भूल क्यों करता है? प्यारे! जो रंग कच्चा है तेरे शुभ आतमपट पर ठहरता ही नहीं फिर उस में इसे रंगने का श्रम क्यों करता है? यदि रंगना है तो उस कान्तिमान् रंग में इसे क्यों नहीं रंगता जिस में समस्त रङ्गों की छटा है और जो न उड़ने वाला तथा तेरे आत्मवस्त्र को चमका देने वाला है, अत एव कहा है, त्याग से भोग कर-राग से नहीं, राग का पात्र है विश्वात्मा अन्तर्यामी परमात्मा जो कि इस विश्व का कर्त्ता नियन्ता व्यापक स्वामी है। यदि कोई कुछसमझवाला भी विचार से इस जगत् का निरीक्षण करे तो उसे यह भली भांति समझ में आजावे कि इस जगत् का कर्ता नियन्ता व्यापक स्वामी परमात्मा है *।

*आठ वर्ष का एक ब्राह्मण बालक (जिस के घर में वेद का पठन पाठन सन्ध्योपसन यज्ञ याग करना चल रहा है वह ब्राह्मण बालक है) पिता की शिक्षा में वर्तमान हुआ अध्ययन के समय अध्ययन सन्ध्योपासन-काल में सन्ध्योपासन करता और खेल के समय खेलता है। खेल के

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

समय पिता उसे खिलोना बनाने वाले शिल्पी (कुम्हार) के यहां ले जाकर खिलोना मोल ले दिया करता है, बहुधा कुम्हार को खिलोना बनाते हुए वह बालक देखा करता था, कभी कभी कच्चे गीले खिलोने को बनाते हुए और उस पर रंग रूप देते हुए देखा करता था। इस प्रकार प्रतिदिन देखते देखते बालक के अन्दर कार्यकर्त्ता की बुद्धि उत्पन्न हो गई। एक दिन उसके पिता ने कुछ पैसे देकर कहा कि बेटा! मुझे काम है तुम जाओ स्वयं खिलोना ले आओ। बालक बाजार में चला जाता है एक अनार बेचने वाले के पास से अनार को नूतन खिलोना समझकर प्रसन्न होता हुआ पिता के पास ले आया और बोला पिता जी! आज तो मैं यह नवीन खिलोना लाया, पिता ने समझा बच्चा है अनार को खिलोना मचलकर कहता है। पिता ने उस अनार को लेकर चाकू से दो-तीन फाड़ों में काट बच्चे को दे दिया। बालक ने जब यह देखा कि अनार के अन्दर सुन्दर रङ्गदार दाने भरे पड़े हैं और दानों की एक पड़त के पश्चात् पतली सी पीले रङ्ग की झिल्ली पुनः उसके नीचे दा... की पड़त है और फिर झिल्ली तथा दानों की पड़त रखी है। इसे देख बालक कुछ आश्चर्य में पड़ गया कि कारीगर ने दाने विधि से और पिटारी के क्रम से रखे एवं बन्द किये हुए हैं पर अनार के ऊपर कहीं भी जोड़ नहीं पुनः उस कारीगर ने इस में ये दाने कैसे बन्द करे हैं? पश्चात् एक दाने को हाथ में उठाता है उस के सुन्दर रङ्ग और स्फटिक मणि की भांति चमक तथा चमक के साथ अन्दर भी कुछ वस्तु रखी हुई जान अधिक अचम्भे में पड़ गया। जब उस दाने को चुटकी में जैसे ही पकड़ा जरा दबते ही तुरन्त उसके अन्दर से रस फुआर की भांति बाहिर उछला और चुटकी में अत्यन्त सूक्ष्म झिल्ली और गुठली रह जाने पर

अन्वयार्थ—(इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्-एव) करता हुआ ही—निरन्तर कर्म करता हुआ (शतं

उसका आश्चर्य और भी बढ़ गया कि इस दाने में कारीगर ने इतनी सूक्ष्म झिल्ली में रस कैसे भरा तथा गुठली कैसे रखी? यह खेल तो बड़ा विचित्र बनाया कैसे बनाया? 'चलूं' उस कारीगर से पूछूं और इसे बनता देखूं।' ऐसा मन में सोच बालक अनार बेचने वाले के पास जाता है और कहता है कि अरे कारीगर! तूने यह खेल कैसे बनाया? मुझे इसे बनता हुआ दिखला। अनार वाले के पास दो-चार अनार और बिकने शेष थे, उसने कहा अच्छा! कुछ ठहर मैं तुझे इसे बनते हुए दिखलाऊंगा! अनार वाले के अनार बिक गये वह बालक को साथ लेकर अपने बगीचे में चला गया, वहां अनारमाला क्यारी में बालक को खड़ा करके कहा, देख! इन पेड़ों पर ये खेल बन रहे हैं। बालक ने देखा कि किसी पेड़ पर तो वैसा ही बड़ा पका अनार तैयार है किसी पर कच्चा छोटा किसी पर फूल के नीचे अत्यन्त छोटा-सा अनार लगा है। तो कहीं फूल-मात्र ही दीखता है तथा कहीं विना फूल का छोटा सा पेड़ और कहीं अत्यन्त छोटा सा भूमि से फूटता हुआ पोधा दीखता है। इस दृश्य को देख बालक और भी गम्भीर विचार में पड़ गया कि यहां तो अनार भी बन रहे हैं और अनारवाले पेड़ भी बन रहे हैं। उधर पेड़ों पर उदकते फुदकते हुए छोटे बड़े पक्षियों को देख जहां वह प्रसन्न हुआ साथ में वह एक और विचार सामने आगया कि ये कूदने-फांदने वाले खिलोने कैसे बने होंगे? इस प्रकार उसका प्रश्न अधिकाधिक गम्भीर होता चला गया। अनार-अनार के पेड़ों और पक्षियों तक ही नहीं रहा अबतो मनुष्य आदि सभी प्राणी उसे चलते-फिरते खिलोने जंचने लगे और इसके बनाने वाला कौन है कहां है? यह जानने की धुन में ही वह बालक आगे जङ्गल की ओर चलपड़ा, कुछ दूर पर एक नदी दिखलाई पड़ी वहां अटका

समाः) सौ वर्षों या बहुत वर्षों तक (जिजीविषेत्) 'मनुष्य' जीने की इच्छा करे या जीवित रह सकता है (एवं त्वयि नरे)

और विश्राम के लिये तट पर ठहर गया। नदी का वेग बड़ा था जलप्रवाह निरन्तर गति कर रहा था, यह देख बालक के मन में एक और प्रश्न खड़ा होगया कि इतना जल निरन्तर बहता हुआ कहां जा रहा है? अवश्य कोई अत्यन्त गहरा निम्न स्थान होगा जहां यह जाकर गिरता होगा या विश्राम लेता होगा, वहां यह ही नदी नहीं किन्तु ऐसी असंख्य नदियां गिरती होंगी, साथ में ऐसा भी कोई ऊंचा स्थान होगा जहां से यह जलप्रवाह आरहा है, देखा तो नदी के उत्तर में दूर पर उंचा पर्वत दिखलाई देरहा है। पुनः पर्वतों पर भी तो जल वर्षा (या हिमपात) से आना सम्भव है और वर्षा मेघों से मेघ आते या बनते होंगे उसी गम्भीर जलस्थान से सूर्य के ताप द्वारा भापरूप में उठकर जहां नदियां जाकर गिरती हैं। अहो! तब तो यह भी एक बड़ा विचित्र गोल खेल है और इस खेल का रचाने वाला भी वही कारीगर है जिस ने अनार-अनारों के पेड़ों और पक्षी आदि प्राणीरूप खेलों को बनाया। तब तो इन सब खेलों का बनाने वाला एक ही महान् कारीगर है परन्तु कौन है कहां है? यह जिज्ञासा बनी रही। अस्तु।

बालक आराम से नदी के तट पर आसन जमा कर बैठ जाता है, जल का थोड़ा आस्वादन करता है नेत्र आदि पर स्पर्श करता है और छींटा भी देता है तो सहसा दो तीन लम्बे लम्बे श्वास आकर मन सावधान और स्थिर हो जाता है तब सामने सूर्य अस्त होता हुआ दिखलाई पड़ा, तुरन्त विचार आया कि यह वही सूर्य है जिसे प्रातः पूर्व में उदय होता हुआ देखा करता हूँ, ऐसा सोचते हुए सूर्य अस्त हो जाता है और द्वितीया का नूतन चांद विचित्र आभालिये हुए गगनमण्डल में दिखाई देने

इस प्रकार तुझ मनुष्य के निमित्त (इतः–अन्यथा न–अस्ति) इससे भिन्न 'संसार में जीने का' उपाय या मार्ग नहीं है (न) और न (कर्म लिप्यते) तेरे अन्दर कर्म लिप्त होसकता है ॥

लगता है, उसे देखते ही बालक की समझ में आजाता है कि छोटा-बड़ा भिन्न भिन्न रूपों में रात में यही तो हुआ करता है अब देखते देखते चांद भी नीचे क्षितिज में चला जाता है तो चमचमाते हुए भांति भांति के नक्षत्र–ताराओं का दृश्य दिखाई देने लगता है । उसे यह सूर्य चन्द्र ताराओं का आना–जाना चमचमाता एक महान् खेल-खिलोना जचा, तब इस समस्त खेल का रचानेवाला एवं बनाने वाला वह एक ही कारीगर है, कौन है और कहां है ? यह मन में धार कर मन को सब ओर घुमाता है तो पूर्व दिशा के पदार्थ रूप खेल खिलौने उस रचयिता को पूर्व दिशा में दूर तक विराजमान हुआ सिद्ध करते हैं एवं दक्षिण के पदर्थ दक्षिण दिशा में, पश्चिम के पदार्थ पश्चिम में, उत्तर के उत्तर में नीचे के नीचे भी और ऊपर के पदार्थ ऊपर दिशा में उसे विराजमान हुआ दर्शाते हैं कि इस दिशा में भी वह रचयिता दूर तक अनन्तरूप से है। तब बालक को निश्चय हो जाता है कि इस विश्वखेल का रचयिता देव मनुष्य जैसा एकदेशी नहीं है किन्तु सर्वत्र व्यापक है वह ऐसा शिल्पी ऐसा देव मेरे पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-नीचे ऊपर होता हुआ मेरे शरीर में मेरे हृदय में मेरे अन्तरात्मा में भी अवश्य है ज्यों ही ऐसी भावना होती है तो अन्तर्मुखावस्था में उस अनन्त रचयिता देव की उसे भासना होती है । बालक उस अनन्त देव के साथ समागम करता है अनन्त अगाध आनन्दसागर में अपने को निमग्न पाता है और कुछ काल उसके उपस्थान में उसके सत्सङ्ग में रह ज्ञानप्रकाश और ज्ञानप्रसाद ले 'हे जगद्

स्पष्टीकरण—मन्त्र में 'कर्म' के सम्बन्ध में मनुष्य को चार चेतावनी दी गई हैं—

१—'कुर्वन्-एव' शब्द में 'एव' साथ लगाकर 'कर्मों को करता हुआ ही' यह कहकर कर्म निरन्तर करते रहने– कर्म करने में रुकावट न डालने का आदेश दिया है। इससे मनुष्य कर्मफलों की चिन्ता से मुक्त होकर निज कर्मों को निष्काम रूप दे सकेगा, कर्मों का फल तो स्वतः ईश्वर की व्यवस्था से मिलेगा ही सफलता में प्रसाद और असफलता में सन्तोष तो गया ही नहीं,

---

रचयिता अन्तर्यामी अनन्त विभुदेव विश्वात्मा विश्वनियन्ता जगदीश आनन्द स्वरूप स्वामिन् ! तुझे बारम्बार नमस्कार हो' ऐसा कह कर आंखें खोल देता है और अपने को निर्मल तथा प्रसन्न पाता है साथ में ऐसा समझता है कि जैसे सन्ध्या करके उठा हो, सोचता है क्या मैं सन्ध्या कर रहा था ? हाँ ! जल का आचमन नेत्र आदि का स्पर्श और मार्जन हुआ था प्राणायाम अघमर्षण मनसापरिक्रमा उपस्थान और अन्त में नमस्कार भी सब क्रियाएं मेरी हुईं। अस्तु। सन्ध्या का रहस्य आज मुझे खुला, अच्छा अब निरन्तर मग्न होकर सन्ध्या किया करूँगा, मेरे पिता की उपदिष्ट सन्ध्या में इतना महत्त्व है कि मैं जीवनभर इससे खेलता हुआ कभी न ऊब सकूंगा और अत्यन्त आनन्द को पा सकूंगा, चलूं पिता की शरण में। बालक घर आता है पिता देखता है और कहता है, बेटा ! तू इतनी देर तक कहां रहा ? तू तो ब्रह्मवित् (ब्रह्मज्ञानी) सा प्रतीत होता है तुझे किसने ब्रह्म का उपदेश दिया ? बालक ने कहा पिता जी ! मुझे अनार आदि विश्व की वस्तुओं ने ब्रह्म का बोध कराया अस्तु ॥ १ ॥

यह तो कर्मपरायण या कर्तव्यपरायण बने रहने की चेतावनी या आदेश है।

२–'जिजीविषेत्'=जीने की इच्छा करे' कथन में जीने की इच्छा करना ही जीवनरूप प्रासाद (महल) की आधार-शिला है और वह बहुत वर्षों (सैकड़ों वर्षों) तक। अधिक काल का जीवन या चिरजीवन प्राप्त करने के लिये जहां अन्य बाहिरी औषधें रसायन हैं वहां उनसे भी कहीं अधिक प्रभावकारी महौषध या महारसायन जीने की इच्छा अपने अन्दर बनाए रखना है। साथ में यह भी लक्ष्य प्रतिभासित होता है कि मरने की इच्छा करना निषिद्ध है–अनुचित है–पाप है। जबकि मरने की इच्छा करना मात्र पाप है तब आत्महत्या करना तो घोर पाप है यह सिद्ध हुआ। एक और चेतावनी भी यहां मिलती है वह यह कि मनुष्य यदि संसार में 'जिजीविषेत्' जीना चाहे तो 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' कर्म करते हुए ही जी सकता है कर्मशून्य होकर या निकम्मा रहकर नहीं।

३—'एवं त्वयि नरे नान्यथेतोऽस्ति'=इस से भिन्न उपाय या मार्ग तुझ मनुष्य के लिये उपादेय नहीं है'। इस से यह आया कि यदि तुझे अपना नरजीवन-मानव जीवन बनाना और उसे उन्नत करना है बस निरन्तर कर्म करते रहना और जीने की इच्छा रखना ही अमोध साधन है विपरीत आचरण कर नरजीवन या मानवजीवन से गिर दानवजीवन या असुरजीवन बनजाना है।

४—'न कर्म लिप्यते' जीवनीय भावना के साथ निरन्तर

कर्म करते रहने से—निष्काम कर्म करते रहने से कर्म लिप्त नहीं होता है। कर्म लिप्त तभी होता है जबकि निरन्तर कर्म न करके मनुष्य रुक जाता है, रुकता तभी है जब सकाम कर्म करता है उसके फल की चिन्ता में पड़ जाता है। तब सफलता में पूर्णरागी और असफलता में महादुःखी होजाता है, बस यही मनुष्य का कर्म में लिप्त होजाना है जोकि उसी एक किए कर्म के साथ चिपक जाता है आगे कर्मपथ से च्युत होजाता है।

प्रवचन—प्यारे अमृतपुत्र! संसार में आकर तूने भोग भोगने हैं, शैशवकाल में माता का स्तन्य पीना पिता की गोद में पलना तथा जब तक समर्थ न हो तब तक भोग भोगने का तेरा प्रथम जीवन हुआ। इस से तू यह भी समझ गया है कि भोगों में प्रवृत्ति जागी हैं संस्कारों से और संस्कार तेरे अन्दर आए हैं पूर्वजन्म से पुनः उन सस्कारों के कारण हैं तेरे पूर्वजन्म कर्म। अब चूंकि तू कर्म करने में समर्थ होगया है अतः अपने इस अग्रिम जीवन और भावी जन्म के लिये कर्म करना भी तेरे लिये अनिवार्य है क्योंकि तू मनुष्य है, मनुष्य-योनि में ही कर्म किए जा सकते हैं पशु-पक्षी की योनि तो केवल भोगयोनि है किन्तु मनुष्ययोनि भोग और कर्म करने की योनि है। भोग तुझे संसार में कैसे करना है यह तो तूने सीख लिया कि त्याग से। पर कर्म कैसे करना अब तुझे यह समझना है। पहली बात तुझे यह सीखनी है कि कर्मशीलता को अपने में पूर्ण स्थान दे, कभी भी कर्म का त्याग

और आलस्य का अभ्यास न डालना। कारण कि कर्म अर्थात् क्रिया ही जीवन है और शक्ति है, जिस नदी में गति नहीं उसका जल निर्बल, दूषित और अपेय होजाता है। वायु में गति होने पर ही प्राणियों को जीवन और बल दे सकता है। अतएव कर्मशून्य या निकम्मा रहकर कोई भी मनुष्य चिरजीवित नहीं रह सकता अपितु नानाप्रकार के रोगों का ग्रास बन जाता है। आलस्य तो जीने वाले के लिये मौत के समान कहा गया है। "आलस्यं जीवतो मृतिः" (हितोक्तिः)।

दूसरी बात तुझे यह जाननी है कि कर्म को कर्त्तव्यदृष्टि से निरन्तर करते रहना, एक के पश्चात दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा कर्म इत्यादि कर्म का क्रम चालू रखना। एक कर्म को कर चुकने पर उसके फल की चिन्ता में अगले कर्म को बन्द न करना पूर्वकर्म का फल अवश्य मिलेगा। दान देना पर उसे कर्त्तव्य समझकर यथासम्भव देते रहना, यही निष्कामता है। दान के पश्चात् उसके फल रूप निज यश की टटोल में पड़ना कि समाचार पत्रों में मेरा यश गाया गया कि नहीं या मुझे ऊंचे पद पर बिठाया गया कि नहीं अथवा मेरे नाम का पत्थर लगाया गया कि नहीं इत्यदि भावना श्रेष्ठ नहीं इससे वह दान भी सात्विक न रहा, साथ मन में अभिमान आकर उदारता रूप गुण की हानि होती है, अनुकूल यशोगान सुनने को न मिला तो पुनः उस दान लेने वाले के प्रति घृणा-द्वेष-क्रोध की भावना अन्तरात्मा में बैठ जावेगी इस से आत्मप्रसाद में

क्षति और भविष्य में उसे दान न देने की दुर्भावना उत्पन्न होकर शुभ कर्म का परित्याग होजावेगा बस यही दानरूप कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है। यह तो केवल उदाहरण मात्र है इसी प्रकार नगर, समाज, राष्ट्र, प्राणीमात्र, धर्म और विद्याप्रचार के प्रति अपने कर्तव्य कर्मों के आचरण में भी निष्कामता उनके निरन्तर करते रहने से बनानी चाहिये। क्योंकि तुम नगर की सेवा करते हो इसलिये सदा मुख्य (मुखिया) ही बनना चाहो या समाज की सेवा कर रहे हो इसलिये सदा प्रधान पद से ही चिपटे रहो या राष्ट्र के कार्य में लगे रहते हो इसलिये सदा नेता होने (लीडरी) की उलझन (कशमकश) में पड़े हो अथवा प्राणीमात्र के हितसाधन में समय बिताते हो इसलिये अपने को महात्मा मानने और मनवाने में व्यग्र हो या धर्म की सेवा कर रहे हो इसलिये लोग धर्मात्मा की पदवी दें इस अभिलाषा में पड़े हो या विद्या के विस्तार में जीवन लगा रहे हो इसलिये हम ऋषि मुनि कहलाए जावें इत्यादि भावनाओं से भविष्य में पुनः ऐसे अच्छे कर्मों में रुकावट आजाया करती है। ध्यान रखो ! तुम किसी भी सेवा कर्म को कर रहे हो उसे कर्तव्य समझकर निरन्तर करते जाओ और उस कर्म का क्षय कभी न करो, वृद्धि ही वृद्धि हो इसी में तुम्हारी भी वृद्धि और अन्यों की भी वृद्धि स्वतः होती रहेगी। बस यही कर्म करने का आदेश है सन्देश है सन्मार्ग है सुपथ है सदुपाय है सदाचार है और मानवजीवन का संस्थापक संवर्धक एवं कल्याणसाधक है। अन्यथा आचरण कर

मानवजीवन से गिर अपने को निकृष्ट दानवजीवन या असुरजीवन बनाकर दुःखसागर में ढकेलना है॥ २॥

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अन्वयार्थ—(असुर्याः - नाम ते लोकाः) हां ! असुरसम्बन्धी वे स्थान या जन्म हैं (अन्धेन तमसा-आवृताः) जो घने अन्धकार से आच्छादित हैं (तान्) उन 'स्थानों जन्मों' को (ते प्रेत्य-अभिगच्छन्ति) वे मरकर प्राप्त होते हैं (ये के च) जो कोई[1] (आत्महनः-जनाः) आत्मघाती मनुष्य हैं।

स्पष्टीकरण—इस से पूर्व के दो मन्त्रों (प्रथम-द्वितीय मन्त्रों) में नरजीवन या मनुष्यजीवन को सार्थक बनाने के लिये आस्तिक भाव के साथ-साथ तीन बातों का आचरण करना बतलाया गया है—"त्याग से भोग करना, कर्मों को निरन्तर करते रहना दीर्घजीवन की इच्छा रखना"। इन तीनों का आचरण न करना आत्मघाती बनना है, कारण कि ये तीनों बातें आत्मा के अकृत्रिम या स्वाभाविक धर्म हैं। आत्मा अमर है अत एव त्याग अर्थात् निर्लेप भाव से भोगों को भोगना उचित है, भोग नश्वर हैं अनित्य हैं मनुष्य उनके साथ लगाव कर उनके नाश में अपने को भी नष्ट हुआ समझता है अपने अमरत्व को भूल जाता है या उसपर नश्वर भोगधर्मों का आरोप कर बैठता है जोकि एक प्रकार की आत्महत्या है। दूसरे आत्मा चेतन है

[1]—'ये के च'=ये के च=ये के चित्', यहां 'च' चन के अर्थ में है।

शरीर इन्द्रियों और मन का स्वामी है उन से काम लेना, अपने इष्ट को साधना भी इसका शाश्वत धर्म है इस प्रकार उन मन इन्द्रियों और शरीर से कर्म निरन्तर करते रहना चाहिये और निरन्तर कर्म न करके या लोभमोहभयवश कर्तव्य कर्म के अभाव से या आलस्य प्रमाद से एवं अन्य मदकारी व्यसन से अपने चेतन और स्वामित्व के धर्म का लोप करना आत्मघात करना ही है तीसरे दीर्घ जीवन की इच्छा रखना—दीर्घजीवन की भावना को समृद्ध बनाए रखना आत्मा का भीतरी गुण है इसके विपरीत जीवननिराशा को स्थान देना एवं अपने और दूसरे के जीवन को नष्ट करना भी आत्महत्या है। इस प्रकार आचरण करने वाले आत्मघाती कहलाते हैं। चूंकि उन उक्त वैदिक आचरण का उल्लङ्घन कर नरजीवन या मनुष्यजीवन से गिरकर असुर बन गये तब इन आत्मघाती असुरों के लिये घने अन्धकार से आच्छादित अर्थात् अनात्मता या जड़ धर्मों से पूर्ण स्थान या जन्म हैं जहां पहुँचने को इसी जन्म से उनकी भूमि बन जाती है वे ऐसे लोग जीते हुए भी न जीते हुए हैं॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

अन्वयार्थ—(अनेजत्) 'ब्रह्म' अचलायमान—एकरस—निर्विकार है (एकम्) एक है—केवल है (मनसः-जवीयः) मन से वेगवान् है (देवाः-एनत्-न- आप्नुवन्) इन्द्रियां इसे प्राप्त नहीं कर सकतीं। क्योंकि (पूर्वम्-अर्षत्) वह ब्रह्म पूर्व से ही प्राप्त

है—प्रथम से ही विद्यमान है (तत् तिष्ठत्) वह सर्वत्र स्थित हुआ—स्थूल गति से रहित हुआ भी (अन्यान् धावतः) अन्य दौड़ते हुए पदार्थों को (अत्येति) अतिक्रमण कर जाता है—पीछे डाल देता है (तस्मिन्) उसके आधार पर (मातरिश्वा) माता के गर्भ में जानेवाला जीवात्मा (अपः) कर्म को [1](दधाति) धारण करता है।

स्पष्टीकरण—'अनेजत्'—वह ब्रह्म चलायमान नहीं होता। जीवात्मा चलायमन होकर कर्मबन्धन में आजाता है या संसार-बंधन में फंस जाता है और चलायमान होकर ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है। प्रकृति भी चलायमान होकर ही जगदाकार बन जाती है या जगद्रूप में परिणत हो जाती है या जगत् का रूप धारण कर लेती है। उक्त अवस्थापरिणाम और रूपपरिणाम से वह परमात्मा रहित है।

'एकम्'—वह ब्रह्म एक है। उसका कोई सजातीय और विजातीय समशक्तिवाला पदार्थ नहीं, वह संख्या में एक है-द्वित्व त्रित्व आदि संख्या व्यवहार से पृथक्—उस से भिन्न अन्य जगत्कर्ता या विश्व का अधिष्ठाता या जीवों का कर्म-फलप्रदाता नहीं है, वह स्वरूप से एक है प्रकृति की भाँति साव-यव (अवयववान्) नहीं अतएव निरवयव या अखण्ड एवं केवल है।

'मनसो जवीयः'—वह ब्रह्म मन से वेगवान् है। मन का

[1]—"अपः कर्मनाम" (निघण्टु)

वेग है वह मिनट भर या सेकेण्ड भर में ही पूर्व से पश्चिम में और पश्चिम से पूर्व में या कहीं से कहीं चला जाता है परन्तु परमात्मा मिनट सैकण्ड तो क्या क्षण भर से भी पहिले अपितु क्षणक्रम या कालक्रम से भी पूर्व वहां पहुंचा हुआ है। मन का वेग है दूर अति दूर देश और काल को पहुंच जाता है किन्तु परमात्मा देश और काल की सीमा से भी परे पहुँचा हुआ है। मन का वेग है किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेना पर एक काल में एक ही ज्ञान, किन्तु परमात्मा सदा सर्वज्ञ है। मन का वेग है समस्त पदार्थों का आदि अन्त जान लेना या कल्पित करलेना सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को पहिचान लेना परन्तु परमात्मा तक उसकी पहुँच या प्रवेश नहीं, मन उसकी खोज करता-करता थक जाता है उसमें डुबकियां लगा लगा कर हार जाता है पर उसकी गहराई में नहीं जा सकता और न उसकी सीमा बना सकता है अपितु उसकी खोज में अपने को मिटा लेता है समाप्त करदेता है क्योंकि वह मन की शक्ति से परे है, कहा भी है "यन्मनसा न मनुते" (केनोप०) "न तत्र वाग् गच्छति न मनो०" (केनोप०)।

'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्'—इन्द्रियां इसे प्राप्त नहीं कर सकती हैं क्योंकि वह पूर्व से विद्यमान है। इन्द्रियां अनित्य हैं, ब्रह्म नित्य है, अनित्य वस्तुएं नित्य वस्तु को पा नहीं सकती हैं—उसकी खोज करने में अशक्त होती हैं खोजते

खोजते जीर्ण हो जाती हैं नष्ट हो जाती हैं नित्य वस्तु उनसे ऊपर है एवं उनकी शक्ति से परे है अतएव अनित्य वस्तुओं से नित्य वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती, अन्यत्र उपनिषद् में कहा भी है "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" (कठोप॰ १।२।१०) इन्द्रियां तो अपने अपने विषय गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द तक ही जा सकती हैं किन्तु ब्रह्म गन्ध आदि से अलग है।

'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'—वह स्थूल गति से रहित है पर दूसरे स्थूल गतिवाले दौड़ते हुए पदार्थों को भी अतिक्रमण करता है—मात करता है। संसार में अत्यन्त दौड़ने वाले पदार्थ वायु, किरणें और विद्युत हैं परन्तु इनकी दौड़ उसके सामने तुच्छ है उसकी विभुगति है उसे ये पा नहीं सकते ये जड़ वस्तुएं एकदेशी हैं अतएव इनकी गति भी एकदेशी ही होती है और उसकी विभुगति सर्वत्र सदा वर्तमान है, कहा भी है "शयानो याति सर्वतः" (कठोप॰ १।२।२०).

'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'—उस के आधार पर माता के गर्भ में जाने वाला जीवात्मा कर्म करता है। जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है पर वह अपने किसी भी कर्म को उससे अलग होकर उसके साक्षित्व से पृथक् नहीं कर सकता। जीवात्मा उसके समक्ष एकदेशी है कहीं भी जावे—पृथिवी के किसी भी कोने में या पृथिवी से भिन्न अन्य किसी भी लोक में जन्म लेकर कर्म करे परन्तु परमात्मा के आधार पर उसके व्यापकत्व में उसके साक्षित्व में रहता हुआ ही कर

सकेगा अन्यथा नहीं, अतएव जहां वह उसे अपने आत्मभाव से प्राप्त करने में सफल हो सकता है वहां साथ में कोई भी पाप कर्म उससे छिपकर या उसके परोक्ष में नहीं कर सकता।

प्रवचन—प्यारे नरसन्तान! भोग और कर्म के यथार्थ आचरण तथा उनकें ऊंचनीच परिणामों को जानकर अपने जीवन के एक भाग को चरितार्थ कर लेने के पश्चात् अब तुझे अपने जीवन के दूसरे भाग की ओर भी चलना है जिसे श्रेयः-मार्ग कहते हैं, वह है परमात्मा के ज्ञान ध्यान में विशेष प्रवृत्ति रखना, जो कि इस मन्त्र से प्रारम्भ होता है। तूने इस मन्त्र द्वारा यह सीखना है कि उस परमात्मा का स्वरूप क्या है और उस तक पहुँचने या उसे पाने के लिये मनुष्य के पास साधन या सामर्थ्य क्या है? जो प्रदर्शित किए जाते हैं।

परमात्मा का स्वरूप—

परमात्मा एक है उसका कोई सजातीय या विजातीय समशक्तिमान् नहीं और न उसका कोई सहायक न बाधक है वह अखण्ड एवं केवल है! अचलायमान एकरस निर्विकार है। वायु, किरण और विद्युत् जैसे वेगवान् पदार्थों पर भी नियन्त्रण-करने वाला विभु, मन में वेगशक्तिप्रदाता और इन्द्रियों एवं जीवशरीरों का उत्पत्तिकर्ता जीवात्मा का भी अनिवार्य आधार अन्तःसाक्षी और अन्तर्यामी है।

उसको प्राप्त करने के लिये साधन या सामर्थ्य—

बाहिरी शक्तिसम्पन्न भी जड़ पदार्थ उसकी प्राप्ति में साधन नहीं हैं इन्द्रियों का वह विषय नहीं है। मन भी उसको पकड़ नहीं सकता। केवल आत्मभाव से अर्थात् इन्द्रियों के व्यवहार और मन के व्यापार को बन्द कर आत्मसमर्पणमात्र से अन्तरात्मा में साक्षात् किया जा सकता है।

साथ में उसे विभु, अन्तर्यामी और अन्तः साक्षी तथा सर्वसाक्षी जानकर सत्कर्मों को करना और पापकर्मों से बचना चाहिये। किसी राजा महाराजा आदि शासक से छिपकर कोई कर्म किया जा सकता है किन्तु परमात्मा से छिपकर नहीं। जो उसे धोका देना चाहता है वह संसार में गिरा रहता है और उसका प्यारा नहीं बन सकता और जो विभु सर्वान्तर्यामी मानकर एवं सर्वसाक्षी जानकर सत्कर्म का आचरण और पापकर्म का अनाचरण करता है वह ही संसार में उठता है प्रभु का प्रेमपात्र बनता है। इस विषय में निम्न दृष्टान्त है—

एक महात्मा के पास दो मनुष्य शिष्य बनने को गये, महात्मा ने उनकी परीक्षा के लिये एक छोटे से बालक शिष्य को सामने खड़ा कर कहा कि इस बालक को ऐसे स्थान पर तीन तमाचे मारकर अलग अलग शीघ्र ले आओ जहां इसे मारते हुए कोई न देखता हो। उनमें से प्रथम एक मनुष्य उस बालक को साथ लेगया और किसी एकान्त स्थान-छिपी हुई जगह में उसको तीन तमाचे मार कर शीघ्र महात्मा के पास ले आया। पुनः दूसरा मनुष्य उक्त बालक को साथ लेगया

और बहुत देर के पश्चात् विना तमाचे मारे ले आया तथा महात्मा से बोला, महात्मन् ! मैं इस बालक को विना तमाचे मारे लाया हूँ क्योंकि मुझे ऐसा स्थान न मिला जहाँ इसे तमाचे मारते हुए कोई देखता न हो ! प्रथम तो यह बालक ही अपने तमाचे मारते हुए को मुझे देखता है चेतन (जीवधारी) होने से यह अपनी चोट का साक्षी है जो कि मार के दुःख को स्वयं अनुभव करता है। दूसरे यदि बालक के आत्मा को मैं न मानूं, अपने आत्मा से तो नकारी नहीं हो सकता, मैं स्वयं भी मारते हुए देखता था। यदि अपनी बाहिरी आंखों को बन्द करलेता पुनः अन्दर से मेरा आत्मा तो इसे मारते हुए ज्ञाननेत्रों से देखता ही। तीसरे अपने आत्मा को भी भूलभूलिया में डालूं तो सर्वत्र व्यापक सर्वसाक्षी सर्वान्तर्यामी परमात्मा इसे मारते हुए देखता ही था क्योंकि वह सर्वज्ञ है और प्रत्येक मनुष्य के प्रत्येक कर्म का साक्षी है, फिर मैं कैसे इसे मारने का साहस करता, अतः विना तमाचे मारे ले आया। यह सुनकर उसे महात्मा ने कहा तू परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, तेरे अन्दर अन्य के अन्तरात्मा की पुकार सुनने का हृदय है, वे लोग अत्यन्त पापी हैं जो दूसरे के आत्मा को कम्पाते हुए दुःख से तडफडाते हुए भी उनपर छुरी चलाते हैं। तूने अपने अन्तरात्मा का भी स्वागत किया—उसके अनुकूल आचरण किया, अन्य जन अपने आत्मा के सदृश दूसरे में आत्मा न समझकर दूसरों को दुःख पहुँचा उनकी हत्या करके अपने आत्मसाक्षित्व के विरुद्ध आचरण

करते हैं इस के अतिरिक्त तेरे अन्दर सर्वव्यापक विश्वराट् (विश्व के राजा) परमात्मा का भय भी है। अन्य लोग अन्यन्त अभिमान या अज्ञान में पड़कर अपनी तुच्छता का भी भान न कर तथा अपने ऊपर सर्वव्यापक परमात्मा को विराजमान न समझकर एवं उसका भय न मानकर पाप पर पाप और हत्या पर हत्या करते रहते हैं अपने को नीच अधम पामर बनाते रहते हैं मनुष्यत्व से गिराते हैं। अस्तु। तू मेरा शिष्य होने योग्य है उस परमात्मा का प्यारा और उसके सत्संग का पात्र है अत एव मेरा शिष्य बन। इसके पश्चात् जो दूसरा मनुष्य बालक को तमाचे मार कर शीघ्र ले आया था उसे कहा कि तू विचारहीन जडबुद्धि मानवता से रहित है मेरा शिष्य बनने का पात्र नहीं है ॥ ४ ॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(तद्-एजति) वह 'ब्रह्म' गति करता है (तत्-न-एजति) वह गति नहीं करता है (तत्-दूरे) वह दूर है (तत्-उ-अन्तिके) वह ही समीप है (तत्-अस्य सर्वस्य-अन्तः) वह इस सब 'प्रत्यक्ष जगत्' के अन्दर है (तत्-उ-अस्य सर्वस्य बाह्यतः) वह ही इस सब 'प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत्' के बाहिर है ॥

स्पष्टीकरण—मन्त्र में "तदेजति, तन्नैजति" वह गति करता है वह गति नहीं करता है, इस वर्णन को देख कर पाठक के

अन्दर दो शङ्काएं उत्पन्न हो जाती हैं, प्रथम यह कि परमेश्वर में ये दो परस्पर विरोधी बातें "गति करता है और गति नहीं करता है' कैसे ?। दूसरे परमात्मा में गति करना कैसे सम्भव है जबकि एकदेशी पदार्थ नहीं।" इन शङ्काओं को उठते हुए देख किन्हीं भाष्यकार ने इस 'तदेजति' का अर्थ 'वह ब्रह्मगति देता है' ऐसा किया है और किन्हीं विद्वान् ने 'तदेजति' में 'एजति' क्रिया को अन्तर्गतणिजर्थ 'एजयति' मानकर 'वह जगत् को चलाता है' ऐसा अर्थ किया है। उक्त अर्थ अच्छे लगते हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं परन्तु ये मूलमन्त्र की शैली के विरुद्ध अवास्तविक अर्थ हैं, कारणकि मन्त्र का स्वरूप है परस्पर विरोधी आशय में, मन्त्र में तीन विचार दिए हैं जो विरोधी तुलना के हैं जैसे 'तदेजति तन्नैजति' है एवं इससे अगले पाठों में 'दूर और अन्तिक (समीप); अन्तः (अन्दर) और बाह्यतः (बाहिर)' का वर्णन विरोधी ही है। इस शैली से 'तदेजति तन्नैजति' वह गति करता है वह गति नहीं करता है ऐसा विरोधी वर्णन होना ही चाहिये। यह बात अलग है कि हम इसका आशय न समझ सकें या सङ्गति न लगा सकें। सङ्गति भी लग जाती है जैसे आगे के पाठों में 'वह दूर भी है समीप भी है तथा इस जगत् के बाहिर भी है अन्दर भी है' इस कथन की सङ्गति लग जाती है कि परमात्मा विभु है इस लिये वह दूर से दूर है और विभु है अतएव जगत् के बाहिर भी है एवं 'तदेजति' में भी वह विभु है वह गति करता है उसकी सर्वत्र विभुगति होती है जैसे कठोपनिषद् में कहा है

"शयानो याति सर्वतः" (कठोप० १। २।२१) शयान अर्थात् व्याप्त हुआ परमात्मा सर्वत्र गति करता है, स्वामी दयानन्द ने भी परमात्मा में विभुगति का वर्णन किया है । अतएव 'तदेजति तन्नैजति' परस्पर विरोधवाद में वर्तमान होते हुए विभुधर्म को अपेक्षित करते हुए सुसङ्गत हो जाते हैं कि वह परमात्मा विभुरूप से सर्वत्र गतिमान् भी है और स्थूल एकदेशी पदार्थ की भांति गति नहीं करता है ॥

प्रवचन—प्यारे मननशील जन ! क्या तू यह जानता है कि सब से अधिक गतिमान् कौन है ? वैसे तो वायु में भारी गति है जो घण्टों में ही समुद्र से वृष्टिवात (मांसून) को ले अति-दूर पर्वतों पर उड़ा ले जाती है और कहीं से कहीं शीघ्र पहुँच जाती है, परन्तु इस से भी सूक्ष्म और अधिक गतिवाली वस्तु हैं सूर्यकिरणें तथा विद्युत्तरङ्ग, इन की गति वायु जैसी स्थूल नहीं किन्तु सूक्ष्म है सूर्यकिरणें मिनट भर या सैकण्डों में ही लाखों करोड़ों मील पहुँच जाती हैं, विद्युत्तरङ्गों की गति भी सूक्ष्म है वह सैकण्डों में एवं तत्क्षण ही काम करती हैं उस के द्वारा दूर अति दूर देशों के संवादों को तो तुम सुनते ही हो किन्तु सूर्यकिरणों विद्युत्तरङ्गों से भी अधिक गतिमान् परमात्मा है उसकी गति अतुल सूक्ष्म या निरतिशय सूक्ष्म अर्थात् विभु-गति है जिस से बढ़कर कोई गति नहीं हो सकती । उस की गति में सैकण्ड या क्षण का लाखवां या करोड़वां भाग भी दूर से दूर जाने में अपेक्षित नहीं है । ऐसे विभुगतिवाले से वायु

किरणें विद्युत् आदि कैसे आगे बढ़ सकें उसे लांघ सके उसके बाहिर जा सके। गति ही शक्ति है अतएव उस विभुगतिमान् अर्थात् अनन्तशक्तिमान् के सत्सङ्ग से शक्ति प्राप्त करना एवं उसके सदाश्रय के अन्दर मोक्ष में अव्याहतगति से विचरना चाहिये।

संसार में कुछ पदार्थ समीप हैं और कुछ दूर हैं, जब हमें समीप में इष्टसिद्धि करनी होती है तो दूर का पदार्थ हमारे लिये अनुपयोगी होता है और जब दूर इष्टसिद्धि हो तो समीप का निरर्थक है क्योंकि जो समीप है वह दूर नहीं और जो दूर है वह समीप नहीं होता, यह बात हम संसार के पदार्थों में देखते हैं परन्तु वह परमात्मा ऐसा है कि जो समीप से समीप और दूर से भी दूर है, यदि उसका सत्सङ्ग करलें उसकी शरण को पालें तो समीप का कार्य भी सिद्ध हो जावे और दूर का भी बन जावे।

परमात्मा इस प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष समस्त जगत् के अन्दर अणु अणु में भी है और इसके बाहिर भी है अपितु वह आकाश जैसे परम अप्रत्यक्ष पदार्थ के भी बाहिर है, अन्यत्र वेद में कहा भी है **"त्वमस्य पारे रजसो व्योम्नः" (ऋग्वेद)** एवं यह विश्व उस परमात्मा के अन्दर रखा हुआ समुद्र में पड़े गेंद की भांति तुच्छ है, ऐसे अनन्त देव की शरण लेना अपने को निर्भय बनाना और सर्वत्र स्वातन्त्र्य एवं स्वाराज्य को पाना है ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

अन्वयार्थ—(यः-तु) जो तो (सर्वाणि भूतानि) समस्त वस्तुओं को (आत्मनि-एव) ब्रह्मात्मा में ही 'स्थित' (अनुपश्यति) देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) समस्त वस्तुओं में 'व्याप्त' (आत्मानम्) ब्रह्मात्मा को देखता है (ततः) फिर 'वह' (न विजुगुप्सते) निन्दित नहीं होता है—निन्दाकर्म पाप कर्म नहीं करता है ॥

स्पष्टीकरण—पूर्व मन्त्र में परमात्मा की विभुता का वर्णन था, उसको साक्षात् एवं जीवन में भावित करलेने वाले ध्यानी जन का व्यवहार या दृष्टिकोण संसार की जड़ वस्तुओं के प्रति कैसा हो जाता है पुनः क्या इष्टफल प्राप्त होता है यह वर्णन इस मन्त्र में है पश्चात् जीवों को किस दृष्टि से देखता है यह अगले मन्त्र में आयगा पुनः परमात्मा को किस रूप में देखता है यह उससे अगले मन्त्र में आनेवाला है। परमात्मा की विभुता को अनुभव करचुकने वाले या जीवन में अपनालेने वाले के सम्मुख पत्ते फूल फल वनस्पति धातु रत्न मणि आदि सुन्दर सुन्दर वस्तुएं एवं वन पर्वत समुद्र आदि भिन्न भिन्न पृथिवीस्थ पदार्थ और विद्युत् मेघ आदि तथा चन्द्र तारे सूर्य आदि आकाशीय पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड यद्यपि अपनी महिमा दर्शाते हुये अपनी ओर आकर्षित करते हुए आते हैं किन्तु वह विभुत्वदर्शी उनकी

ओर आकर्षित नहीं होता उनका स्वरूप उसके सामने गौण है प्रत्युत उनके अन्दर परमात्मा की विभुसत्ता का दर्शन एवं भान ज्ञान ही होता है "जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है" कि उक्ति होती है। अतएव ऐसा अभ्यासी या ध्यानी जुगुप्सित-निन्दित कर्म पापकर्म दोषमल से बचा रहता है किन्तु अनायास सत्कर्म ही उससे हुआ करते हैं॥

प्रवचन—प्यारे जिज्ञासु ! आपकी समझ में आगया होगा कि संसार में पाप का आचरण अधिक क्यों मिलता है ? उक्त मन्त्र के अनुसार परमात्मा को न मानना पापाचरण का कारण है। किसी ने परमात्मा को सातवें आकाश में किसी ने चौथे आकाश में बैठा हुआ समझा है, किन्हीं लोगों ने तीर्थविशेष में या मन्दिर मस्जिद आदि मात्र स्थानों में ही रहता है ऐसा माना है। इस प्रकार एकदेशी समझने से लोमों में पाप का आचरण अधिक बढ़ गया, यदि उसे विभु मानते तो उसे सर्वत्र साक्षी समझ पाप करने में भय करते। अतएव आप उस परमात्मा को विभु सर्वसाक्षी समझ वस्तु वस्तु में उसकी विभु-सत्ता का अनुभव करें जिससे न केवल पापकर्म करने से ही बच सकेंगे किन्तु पाप के मन में उदय होने तक का भी अवसर न आने पाएगा, जीवन पवित्र स्फटिकमणि के सदृश निर्मल होकर परमात्मदेव के दर्शन का भाजन बन सकेगा पुनः सूर्य आपके सामने चमचमाता हुआ विश्वात्मदेव की झांकी दिखलाएगा चन्द्र तारे झिलमिलाते हुए उसी का दर्शनामृत पान

कराएंगे और समस्त पदार्थ उसी का राग सुनाएंगे ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

अन्वयार्थ—(विजानतः) परमात्मविभुतादर्शी ज्ञानी के (यस्मिन्) जिस दर्शन--ज्ञान या मन में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा--एव--अभूत्[1]) केवल आत्मा ही है 'स्त्री बालक, गौ, हरिण, मयूर आदि मोहक प्राणी' तथा घातक वञ्चक, चोर, सिंह, सर्प आदि भयङ्कर प्राणी उसके सम्मुख अपना अपना मोहक तथा विकराल व्यक्तित्व नहीं दिखलाते हैं किन्तु आत्मभाव में भासित होते हैं। उस ऐसे (एकत्वम्--अनुपश्यतः) एक आत्मा मात्र दृष्टि से देखते हुए के (तत्र) उस दर्शन ज्ञान या मन में (कः-मोहः कः- शोकः) कौन मोह कौन शोक है ? अर्थात् कोई नहीं ॥

प्रवचन—प्यारे विचारक ! परमात्मा के वैभवदर्शन की दूसरी स्थिति या सिद्धि यह है कि समस्त प्राणियों को आत्मभाव से देखे, न किसी से वैर और न किसी से राग। उन में अपने जैसा आत्मा समझना अन्य बाह्य आकारप्रकारों की ओर मन को विचलित न करना। ऐसे महात्मा के प्रति कोई प्राणी अपने व्यक्तित्व या बाह्य आकारप्रकारों से मोह और शोक का कारण नहीं बन सकता, उसके सम्मुख स्त्री आदि

[1] "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० ३।४) सामान्यकाल में लुङ्।

व्यक्ति अपने स्त्रीत्व रूप आदि बाह्य आकार से मोह उत्पन्न नहीं करती है और न सिंह आदि प्राणी उसे अपने बाहिरी विकराल रूप से शोक का कारण बनता है उसके समीप वे सब आत्मभाव से भासित होते हैं। अलगअलग प्राणी-शरीर उसे परमात्मा की विभूति कृति ही दीखती हैं क्या बड़े से बड़ा शरीर हाथी ह्वेल मच्छली का हो या मच्छर चींटी आदि का छोटे से छोटा शरीर हो ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान् व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्वयार्थ—(सः पर्यगात्) वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है—अनन्त है (शुक्रम्) 'वह ब्रह्म' शुभ्र अर्थात् अतुल भासमान है (अकायम्) कायरहित-देहरहित-नेत्रादियुक्त जीवशरीर से रहित (अव्रणम्) व्रणरहित-अवकाशरहित-अवकाशवाले काष्ठ, पाषाण, स्वर्ण आदि ठोस एवं पृथिवी, चन्द्र, सूर्य आदि पिण्ड--जैसे व्यक्तिरूप से रहित (अस्नाविरम्) धारा-रहित—धारामय विद्युत् किरण और वायुजैसी जडसत्ता से रहित (शुद्धम्) निर्मल—अनावरण—निःसङ्ग (अपापविद्धम्) पापसम्पर्क से अलग (कविः) क्रान्तदर्शी--सर्वज्ञ (मनीषी) मनोवृत्तियों का ज्ञाता (परिभूः) सब पर स्वामित्व रखने वाला (स्वयम्भूः) स्वयं सत्ता से विराजमान (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) सदा से साथ रहने वाली जीवरूप प्रजाओं के

लिये (अर्थान्) अर्थों--पदार्थों--जगत्पदार्थों को (याथातथ्यत:) यथावत्--ठीक ठीक (व्यदधात्) रचता है--निर्माण करता है ॥

प्रवचन—प्यारे परमात्मभक्त ! परमेश्वर के विभुत्वदर्शन की यह तीसरी स्थिति या सफलता है। यहां मनुष्य परमात्मा की गोद में बैठा हुआ उसके साक्षात् स्वरूप को देख देख हर्षित आनन्दित और मोदित हो रहा है तथा उसके स्वरूप को इस प्रकार भान कर रहा है कि परमात्मा मेरे सब ओर विराजमान है अतएव वह मेरे अन्दर है और मैं उसके अन्दर हूँ, यह मेरा अन्तर्यामी देव कायिक व्यक्तियों कीट--पतङ्ग--पक्षी--मनुष्य--पशु (हाथी पर्यन्त) और ह्वेल मछली पर्यन्त जलचरों--जैसा नहीं है क्योंकि उक्त जीवशरीरों में इन्द्रियों के निकाय (गोलक या अवयव) हैं किन्तु परमात्मा 'अकाय' है। तथा न वह परमात्मा आवकाशिक वस्तुओं अर्थात् वृक्ष (चील--चनार--वट आदि) पाषाण (शिला--चट्टान--गिरि पर्वत आदि) पृथिवीगोल, चन्द्र, सूर्य आदि पिण्डों जैसा अवकाशवाला पदार्थ है क्योंकि वह 'अव्रण' है तथा न ही विद्युत् किरण वायु के जैसा धारामय व्यक्ति है क्योंकि इन में अणुरूप सूक्ष्म अवयवों की धाराएं चलती रहती हैं किन्तु परमात्मा 'अस्नाविर' धारारहित है। इस प्रकार परमात्मा एक-देशी—व्यक्तिरूप से रहित होता हुआ किसी आवरण से आवृत या किसी सङ्ग से सक्त भी नहीं है किन्तु 'शुद्ध है +।

+ इस से ब्रह्म में माया का आवरण या अविद्या का सङ्ग कल्पित नहीं किया जा सकता ।

ऐसा वह परमात्मा समस्त जड के धर्मों एवं दोषों से रहित तथा चेतन जीव के स्वभावों से भी अलग है क्योंकि 'अपापविद्ध' है। सर्वज्ञ घटघटवासी अन्तर्यामी सब का स्वामी स्वाधार अन्यों का आश्रयरूप हम जीवों को अपनी कृपा का पात्र बना हमारे लिये विविध पदार्थों की रचना करता है ज्ञान धर्म और निज दर्शन का अमृतपान कराता है, धन्य हो ऐसा उपास्य देव हमारा सदा संरक्षक रहे ॥८॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳪरताः॥९॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयᳪसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

विशेष वक्तव्य—इन तीन मन्त्रों में 'विद्या-अविद्या' के सम्बन्ध में वर्णन है। प्रथम मन्त्र में कहा है कि 'जो जन अविद्या की उपासना करते हैं वे घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो जन विद्या में रत हैं वे उस से भी अधिक घने अंधकार में जाते हैं' दूसरे मन्त्र में बतलाया है कि विद्या से कुछ और फल कहते हैं और अविद्या से कुछ और फल कहते हैं' तीसरे मन्त्र में आया है कि 'विद्या और अविद्या दोनों को जो साथ-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को तरकर विद्या से अमृत को प्राप्त होता है'। प्रथम मन्त्र में विद्या-अविद्या जीवन

को गिराने वाले पदार्थ कहे हैं और तीसरे मन्त्र में उन्हें उठाने वाले बतलाया है। यहां सर्वप्रथम यह देखना है कि विद्या और अविद्या क्या वस्तुएं हैं। विद्या का अर्थ ज्ञान है यह तो निर्विवाद है अब अविद्या का अर्थ जानना रहा। अविद्या का अर्थ विद्या का अभाव लिया जावे तो उसका सेवन करना काम में लाना नहीं बन सकता और फिर उससे मृत्यु को तरना तो सर्वथा असम्भव है अतः अविद्या का अर्थ 'कोई वस्तु है, वह क्या है अब यह देखना है। ऐसे शब्दों के लिये 'महाभाष्य व्याकरण' में एक परिभाषा या नियम दिया है कि "नञिवयुक्त-मन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः-अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशः पुरुष आनीयते न लोष्ठमानीय कृतीभवति" (महाभाष्यव्याकरणम्) 'नञ्' अर्थात् 'न' (नहीं) और 'इव' (उपमावाचक) से युक्त पद का अर्थ (जिसके साथ ये लगे हों) उस से भिन्न और उस जैसी वस्तु होता है, ऐसा करने पर ही अर्थ ठीक होता है। जैसा कि 'अब्राह्मण' को ले आ ऐसा कहने पर ब्राह्मण से भिन्न ब्राह्मणसदृश (क्षत्रिय आदि) मनुष्य लाया जाता है मिट्टी के ढेले को ले आने से काम नहीं चलता। जिस प्रकार यहां 'अब्राह्मण' का अर्थ ब्राह्मण का अभाव नहीं किन्तु ब्राह्मण से भिन्न ब्राह्मण जैसी वस्तु मनुष्य अर्थ है इसी प्रकार उपर्युक्त विद्या-अविद्या वाले मन्त्रों में अविद्या का अर्थ विद्या का अभाव नहीं किन्तु विद्या से भिन्न विद्या जैसी वस्तु ही अर्थ है। विद्या का अर्थ है ज्ञान तब अविद्या का अर्थ ज्ञान से भिन्न ज्ञानजैसी

वस्तु हुआ, ज्ञान है आत्मा का गुण "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञाना-न्यात्मनो लिङ्गम्" (न्याय दर्शन) अतः अविद्या का अर्थ ज्ञान से भिन्न ज्ञानजैसा आत्मा का गुण 'प्रयत्न' है क्योंकि यहां सूत्र में प्रथम तीन गुणों का दूसरे तीन गुणों से यथाक्रम सम्बन्ध है। इच्छा का सुख के साथ द्वेष का दुःख के साथ और ज्ञान का प्रयत्न के साथ, तथा ज्ञान आत्मा के विकास का साधन है तो प्रयत्न भी आत्मा के विकास का साधन है अतएव अविद्या का अर्थ प्रयत्न अर्थात् कर्म सिद्ध हुआ। ज्ञान और कर्म का साहचर्य भी अन्यत्र शास्त्रों में पाया जाता है "विद्याकर्मणी समन्वारभेते" (बृहदारण्यको०) गीता में भी ज्ञानयोग और कर्मयोग की तुलना की है। इस प्रकार विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म हुआ। यहां एक और भी बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि प्रथम मन्त्र में विद्या-अविद्या को गिराने वाले कहा है परन्तु तीसरे मन्त्र में उन्हें साथ-साथ जान लेने पर जीवन को उठाने वाले बतलाया है इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रथम मन्त्र में गिराने वाले विद्या-अविद्या अलग-अलग स्वरूप में हैं अर्थात् केवल विद्या (केवल ज्ञान या कर्मशून्य ज्ञान) और केवल अविद्या (केवल कर्म या ज्ञानशून्य कर्म) हैं। बीच के दूसरे मन्त्र में जो विद्या का फल कुछ और अविद्या का फल कुछ और है ऐसा कहा है वह मन्त्र दोनों (प्रथम और तीसरे) मन्त्रों के साथ देहलीदीपकन्याय से सम्बन्ध रखता है (देहली में रखा दीपक जैसे दोनों ओर—आसपास के दोनों

स्थानों या कमरों में प्रकाश देता है) वे विद्या अविद्या अलग-अलग हों या मिले जुले हों दोनों का फल तो भिन्न-भिन्न होना ही है। अस्तु। अब उक्त तीनों मन्त्रों का अर्थ करते हैं।

प्रथम मन्त्र—

अन्वयार्थ—(ये-अविद्याम्-उपासते) जो अविद्या अर्थात् कर्म-केवल कर्म-ज्ञानशून्य कर्म की उपासना करते हैं। वे (अन्धन्तमः प्रविशन्ति) घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं (ये-उ विद्यायां रताः) जो ही विद्या अर्थात् ज्ञान-केवलज्ञान—कर्मशून्य ज्ञान में रत हैं-लगे रहते हैं (ते) वे (ततः-भूयः-इव तमः) उससे भी अधिक घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

स्पष्टीकरण—एक मनुष्य केवल कर्म या ज्ञानशून्य कर्म कर रहा है बिना सोचे समझे चल रहा है—कहां जाना क्यों जाना किस रास्ते से और किन साधनोंसहित जाना चाहिये इत्यादि ज्ञान से रहित हो चला जा रहा है तब निःसन्देह वह घने अंधकार में प्रवेश करेगा—अवश्य कहीं न कहीं किसी न किसी दुर्गम्य स्थान में वन जङ्गल में गर्त्त में खड में जा गिरता ही है और दूसरा मनुष्य कर्मशून्य ज्ञान में रत है घर में बैठा-बैठा मन में तर्क वितर्क करता सोचता ही रहता है कर्म कुछ भी नहीं करता है, धीरे-धीरे प्रकृति उसके मस्तिष्क को निर्बल निःसत्त्व बना देती है—सोचते-सोचते उसका मस्तिष्क जड बन जाता है चिरकालीन चेतनारहित या उन्मत्त बन जाता है इस प्रकार यह पहिले से भी अधिक घने अन्धकार में प्रवेश करजाता है। यदि

इन दोनों को अगले जन्म देने के लिये न्याय किया जावे तो निर्णय होगा कि जो ज्ञानशून्य होकर चलता रहा उसे चलती फिरती योनि–जंगम योनि पशु-पक्षी की योनि में भेजा जावे और जिसने कर्मशून्य होकर तर्कवितर्क सोच विचार में मन को थकाया मस्तिष्क को सुखाया जड बनाया उसे गति-हीन जडयोनि में वृक्षयोनि में भेजा जावे। अतएव केवल ज्ञान में रत होना तो केवल कर्म करने की अपेक्षा अधिक गिराने वाला है॥ ६॥

दूसरा मन्त्र—

अन्वयार्थ—(विद्यया) ज्ञान से (अन्यत्-एव) और ही 'फल' (आहुः) कहते हैं (अविद्यया) कर्म से (अन्यत्) अन्य 'फल' (आहुः) कहते हैं (इति धीराणाम्) ऐसा धीर विद्वानों का 'वचन' (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (नः) हमें (तत्) उस 'वचन' का (विचचक्षिरे) व्याख्यान करते थे।

स्पष्टीकरण—ज्ञान का फल और है कर्म का फल और है चाहे वे पूर्व मन्त्र के अलग अलग सेवन किए हुए हों या अगले मन्त्र में आने वाले दोनों साथ साथ सेवन किए हुए हों। भेद इतना ही है अलग अलग सेवन पर फल गिराने वाले हैं और मिला कर सेवन करने पर फल उठाने वाले होंगे।

तीसरा मन्त्र—

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य (विद्यां च–अविद्यां च तत्-उभयं सह) ज्ञान–कर्म दोनों को साथ साथ (वेद) जानता है।

वह (अविद्यया) कर्म से (मृत्यु तीर्त्वा) मृत्यु को तरके (विद्यया) ज्ञान से (अमृतम्-अश्नुते) अमृत को प्राप्त होता है।

स्पष्टीकरण—यहां 'विद्या--अविद्या' अर्थात् ज्ञान और कर्म को साथ साथ जानने --ज्ञान की सहायता से कर्म और कर्म की सहायता से ज्ञान के सेवन करने से मृत्यु को तरना और अमृत को पाना क्रमशः फल हैं। उक्त फलश्रुति साधारण नहीं किन्तु बहुत ऊंची है और आत्मा से अर्थात् भीतरी जीवन से सम्बन्ध रखती है यदि इसे प्रधान मानें तो यहां कर्म और ज्ञान भी साधारण कर्म और ज्ञान नहीं किन्तु बहुत ऊंचे और सीधे आत्मा से-भीतरी--जीवन से सम्बन्ध रखने वाले समझने चाहियें, जो कि अध्यात्म कर्म—आन्तरिक कर्म—कर्मयोग (यमनियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिरूप अष्टाङ्ग योगाभ्यास) और अध्यात्म ज्ञान—आन्तरिक ज्ञान—ज्ञानयोग (परमात्मज्ञान या पुरुषदर्शनरूप परवैराग्य) हैं। इस प्रकार अविद्या अर्थात् कर्म से मृत्यु को तरना अध्यात्म कर्म या आन्तरिक कर्म या कर्मयोग (योगाभ्यास) से जन्ममरण प्रवाह को तरना या जन्ममरण बन्धन से छूटना और विद्या अर्थात् ज्ञान से अमृत को पाना अध्यात्म ज्ञान या आन्तरिक ज्ञान या ज्ञानयोग से (परमात्मज्ञान—परमात्मदर्शन) से अमर पद मोक्ष को पाना है। यह तो फलश्रुति को प्रधान मान कर मन्त्र का आशय है जो अध्यात्मविद्या में परम उपादेय है और यदि मृत्यु को तरना और अमृत को पाना रूप फल गौण

समझा जावे तब मृत्यु का अर्थ दुःख और अमृत का अर्थ सुख होगा पुनः कर्म और ज्ञान का स्वरूप भी साधारण कर्म और साधारण ज्ञान ले सकेंगे। इनके मेल का सेवन कर कर्म से दुःख को तरना और ज्ञान से सुख को पाना फल है, जैसे—जिस मनुष्य को ओषधि के गुणों का ज्ञान है साथ ही उसकी वटी चूर्ण क्वाथ भस्म आदि क्रिया और सेवनरूप कर्म का भी आचरण करता है तो वह मनुष्य समय पर हुए ज्वर आदि दुःख को तरकर स्वास्थ्य नवजीवनरूप सुख को प्राप्त कर सकता है।

विद्या--अविद्या अर्थात् ज्ञान-कर्म को अलग अलग सेवन करने पर प्रथम मन्त्र में गिराने वाला कहा गया है किन्तु तीसरे मन्त्र में दोनों के मेल को जीवन के उठानेवाला कथन करना किस प्रकार सम्भव है ? वस्तुतः ऐसी शङ्का सजातीय वस्तुओं में तो यथार्थ है क्योंकि वहां अलग अलग अवस्था में जो गुण हैं वे मेल में अधिक ही हो जाते हैं जैसे तिलों में अलग अलग तैल है तो मेल में समूह में अधिक तैल हो जाता है परन्तु विजातीय वस्तुओं में अलग अलग होने पर अवगुण हैं तो उनके मेल में गुण आजाते हैं—इसी प्रकार यहां कर्म और ज्ञान दोनों विजातीय हैं अत एव यहां अलग अलग होने में दोष और इनके मेल में गुण कहे हैं। यहां 'नष्टाश्वरथ' का न्याय सङ्गत होता है जैसे एक मनुष्य के पास केवल रथ अर्थात गाड़ी है किन्तु अश्व अर्थात् घोड़ा नहीं और दूसरे मनुष्य के पास

अश्व अर्थात् घोड़ा है किन्तु रथ अर्थात् गाड़ी नहीं है। अलग अलग रहने पर गाड़ी वाले को भी हानि है और घोड़े वाले को भी हानि है, गाड़ी वाले को गाड़ी में जो रुपये लगे हैं उनका सूद चढ़ता है और खड़ी खडी गाडी को मैल कीड़ा लग जाता है एवं घोड़े वाले को भी घोड़े में लगे रुपयों का सूद चढ़ता है खड़े खड़े घोड़े को रोग लगता है तथा इसे तो चारे दाने में भी व्यय करना पड़ता है यदि ये दोनों मिल जावें तो गाड़ी चल पड़े हानि दूर होजावे और आय का लाभ ही लाभ होजावे। यही बात यहां विद्या--अविद्या के प्रति समझें, अलग अलग में हानि और मेल में लाभ। अस्तु ॥ ११ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

विशेष वक्तव्य—इन 'सम्भूति-असम्भूति' वाले तीनों मन्त्रोंका भी वर्णनक्रम पूर्वोक्त विद्या-अविद्या वाले मन्त्रों के समान है केवल 'सम्भूति-असम्भूति' शब्द विशेष हैं। सम्भूति-असम्भूति का अर्थ क्या है यह यहां देखना है। सम्भूति का अर्थ मिल कर बनने वाली उत्पन्न होने वाली वस्तु अर्थात् सृष्टि। सम्-पूर्वक

भू धातु मिलने अर्थ में आता है—जेसे "सम्भूय गच्छत" मिलकर चलो तथा उत्पत्ति अर्थ में गीता का वचन देखें "सम्भवामि युगे युगे" (गीता) श्री कृष्ण जी कहते हैं कि मैं युग युग में उत्पन्न होऊं। इस प्रकार सम्भूति का अर्थ सृष्टि हुआ पुनः-असम्भूति का अर्थ पूर्व प्रक्रिया के अनुसार सम्भूति से भिन्न सम्भूतिजैसा अर्थात् सृष्टि से भिन्न सृष्टि जैसी वस्तु, वह है प्रकृति। जो कि सृष्टि से भिन्न है और सृष्टि जैसी है-सृष्टि जड़ है प्रकृति भी जड़ है। अब मन्त्रों के अर्थ देखें।

प्रथम मन्त्र—

अन्वयार्थ—(ये-असम्भूतिम्-उपासते) जो जन असम्भूति अर्थात् प्रकृति को उपासना करते हैं। वे (अन्धन्तमः प्रविशन्ति) घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं (ये-उ) जो ही (सम्भूत्यां रताः) सम्भूति अर्थात् सृष्टि में रत हैं—फसें हैं (ते) वे (ततः-भूयः-इव तमः) उस से भी अधिकजैसे घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं॥

स्पष्टीकरण—एक मनुष्य के पास केवल प्रकृति—कारणरूप गेहूँ आदि शुष्क विना पका अन्नमात्र है, वह नहीं जानता कि इस की रोटी आदि भोजन कैसे बनता है ? वह उस प्रकृति या कारणरूप कच्चे गेहुँ को ही खाता है तो अनेक रोगों का ग्रास बन जाता है—घने अन्धेरे में प्रवेश करता है। दूसरे मनुष्य-के पास केवल सृष्टि—बनी हुई रोटी आदि भोजन वस्तु मात्र हैं वह नहीं जानता कि यह रोटी आदि भोजन किससे बना है ?

वह उसी सृष्टि रूप रोटी आदि पर निर्भर है उन्हें खाता जाता है रोटी आदि का खाते खाते समाप्त हो जाना या पड़े रहने पर कालान्तर में बिगड़ जाना एवं अभोज्य बन जाना अनिवार्य है। पुनः अभोज्य को खाने से भयङ्कर रोगी बन जाने या रोटी आदि के समाप्त हो जाने पर भूखे मर जाने जैसे घने अन्धकार में पहिले मनुष्य की अपेक्षा अधिक पड़ता है ॥

दूसरा मन्त्र—

अन्वयार्थ—(सम्भवात्) सम्भूति से--सृष्टि से (अन्यत्-एव-आहुः) और ही फल कहते हैं (असम्भवात्) असम्भूति से प्रकृति से (अन्यत्-आहुः) अन्य फल कहते हैं (इति धीराणां शुश्रुम) ऐसा धीर पुरषों का 'वचन' सुनते हैं (ये) जो (नः) हमें (तत्-विचचक्षिरे) उसका व्याख्यान करते थे ॥

तीसरा मन्त्र—

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य (सम्भूतिं च विनाशं च तत्-उभयं सह) सम्भूति अर्थात् सृष्टि और विनाश अर्थात् प्रकृति इन दोनों को साथ साथ (वेद) जानता है। वह (विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा) विनाश अर्थात् प्रकृति से मृत्यु को तरकर (सम्भूत्या-अमृतम्-अश्नुते) सम्भूति अर्थात् सृष्टि से अमृत को प्राप्त करता है ॥

स्पष्टीकरण—यहां मन्त्र में 'विनाश' शब्द नवीन सा प्रतीत होने से इसे शाङ्करभाष्य में सम्भूति के स्थान में माना है, और मन्त्र में आए सम्भूति शब्द को 'असम्भूति' के स्थान में

लुप्त-अकार माना है, परन्तु यह कल्पना मूलमन्त्रों के क्रम एवं शैली के प्रतिकूल है। मलमन्त्रों की क्रमदृष्टि या शैली निम्न देखें—

१—प्रथम मन्त्र के 'सम्भूति-असम्भूति' के स्थान में दूसरे मन्त्र में 'सम्भव-असम्भव' शब्द रखे हैं, अतः दूसरे मन्त्र में 'सम्भव' शब्द सम्भूति के लिये और 'असम्भव' शब्द असम्भूति के लिये स्पष्ट हैं केवल प्रत्ययभेद है वस्तु या अर्थ एक है। इसी प्रकार तीसरे मन्त्र में भी सम्भूति शब्द तो ज्यों का त्यों है पर 'विनाश' शब्द असम्भूति के स्थान में क्रमदृष्टि से रखा हुआ यथार्थ है।

२—'विद्या-अविद्या' वाले मन्त्रों में 'विद्या-अविद्या' को साथ साथ जानने के फलप्रदर्शन में 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' नञात्मक-नकारात्मक से मृत्यु को तरना फल बतलाया गया है एवं यहां 'सम्भूति-असम्भूति' वाले प्रकरण में भी 'सम्भूति-असम्भूति' को साथ साथ जानने से फलप्रदर्शक तीसरे मन्त्र में मृत्यु को तरना नञात्मक--नकारात्मक असम्भूति से ही होना चाहिये जोकि मूल मन्त्र में अमृत को प्राप्त करना फल सम्भूति से कहा गया है, अत एव 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' में विनाश शब्द असम्भूति के स्थान में ही है (जो कि प्रकृति का अर्थ देता है)। अतः 'विनाश' शब्द को सम्भूति के स्थान पर मानना और 'सम्भूति' शब्द में लुप्त-अकार मान 'अ' को बढाकर 'असम्भूति'

शब्द की कल्पना करना मूलमन्त्रों के क्रम और शैली के प्रतिकूल है।

३—तीसरे मन्त्र में आए 'विनाश' शब्द का अर्थ प्रकृति ही है, क्योंकि "नश अदर्शने" (दिवादि०) 'नश' धातु अदर्शन होजाने अर्थ में है। मिट्टी की ढेली को बहुत बारीक पीसकर हथेली पर रख फूंक मार कर उड़ा दो तो वह ढेली अब ढेली रूप में न रही किन्तु विनाश को प्राप्त होगई या उसका विनाश होगया, देखना चाहिये कि उसका विनाश क्या होगया? उसके सूक्ष्म कण वायु के आधार पर आकाश में फैले हुए वर्तमान हैं इस से कोई नकार न करेगा, पुनः उसके विनाश होने का तात्पर्य है उस ढेली के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव अलग अलग अव्यक्त होजाना-कारणावस्था को प्राप्त होजाना--प्रकृतिरूप को धारण कर लेना मात्र है यही उसका अदर्शन अर्थात् अतीन्द्रिय होजाना विनाश को प्राप्त हो जाना है। बस विनाश क्या है वस्तु का प्राकृतिरूप बन जाना है अत एव विनाश का अर्थ प्रकृति हुआ, एवं मूल मन्त्र में 'असम्भूति' के स्थान में विनाश शब्द का रखना सार्थक है अन्य विरुद्ध कल्पना करना अप्रासङ्गिक और अनावश्यक है॥

सम्भूति-असम्भूति अर्थात् सृष्टि-प्रकृति को साथ साथ जानने वाले मन्त्र में मृत्यु को तरना और अमृत को पाना रूप फलश्रुति अध्यात्म जीवन को है, अत एव यहां सृष्टि और प्रकृति भी अध्यात्मरूप में हैं। यहां की सृष्टि--अध्यात्म सृष्टि है इन्द्रियादि-

संघात शरीर और प्रकृति-अध्यात्म प्रकृति है उसका कारणरूप मन कहा भी है ("मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे" (प्रश्नो० ३।३) मन के कारण शरीर में जीव आता है। इस प्रकार 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' विनाश अर्थात् असम्भूति-प्रकृति--अध्यात्म प्रकृति-रूप मन से मन के नियन्त्रण या निरोध से जन्म मरणरूप मृत्यु को तरकर 'सम्भूत्याऽमृतमश्नुते' सम्भूति-सृष्टि--अध्यात्म-सृष्टिरूप इन्द्रियादिसंघात शरीर से इस के द्वारा परमात्म-विषयक श्रवण कर अमृतत्व मोक्ष को पाता है।

स्मरण रहे कि इस "विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति" प्रकरण में मृत्यु को तरने और मोक्ष पाने के लिये साधन चतुष्टय-का वर्णन है इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि अध्यात्म सृष्टि रूप श्रोत्रनेत्रादि संघात से श्रवण (परमात्म गुणों का सुनना पढ़ना आदि) अध्यात्म प्रकृति रूप मन से मनन अध्या-त्मकर्म--कर्मयोग से निदिध्यासन और अध्यात्मज्ञान-ज्ञानयोग से साक्षात्कार (परमात्मसाक्षात्कार) होता है॥

प्रवचन—प्यारे मानवसन्तान ! श्रोत्रनेत्रादिमय मानव देह केवल संसार के भोग विलासों में ही समाप्त कर देने के लिये नहीं है, किन्तु इसकी विशेषता तो अन्तर्यामी विश्वात्मदेव तक पहुँचने के लिये है। वस्तुतः यह मानवदेह रथ है, इस में आरूढ होकर गन्तव्य एवं प्राप्तव्य ब्रह्मरूप परम पद की ओर जाना है, उस तक पहुँचने की अत्यन्त उत्सुकता होनी चाहिये। वेद में कहा है—

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्॥
(ऋ० ७।८६।२)

"हां ! मैं अपनी काया के साथ संवाद करता हूं—पूछता हूँ कि उस वरणीय एवं वरनेवाले अन्तर्यामी परमात्मा के अन्दर कब विराजमान हो सकूंगा, वह मेरे किस भेंट या समर्पण को अपनाता हुआ मुझे स्वीकार कर सके पुनः मैं कब पवित्र मनवाला होकर उस सुखरूप देव को देख सकूं।" मानवदेह का परम कर्तव्य और परम फल है ही परमात्मदर्शन इसकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिये, योगक्षेम के लिये इन्द्रियों के भोग भी भोगने होते हैं परन्तु उन में ही इन्हें जीर्ण शीर्ण या लिप्त कर देना मानवता नहीं है किन्तु ऐसा भी अवसर या अभ्यास जीवन में लाना और बनाना चाहिये जब कि किसी चन्दन आदि की सुगन्ध को सूंघे तो प्रभु की स्मृति हो, किसी फल का रस चखे तो परमात्मा की रचनाकुशलता का बोध हो, किसी फूल या पक्षी को देखे तो विश्वकलाकार परमात्मा की छवि भासे, किसी स्पर्शनीय वस्तु का स्पर्श करे तो ईश की महिमा का प्रतिभान हो, किसी पक्षी आदि का शब्द सुने तो कविवर जगदीश की विभूतिवीणा गूंजती लगे। अपि तु कानों से सुनने में रुचि हो तो प्रभुकीर्तन गुणस्तवन में हो, आंखों से पढ़ने में प्रवृत्ति हो तो परमात्मा के प्रवचन-पाठों में हो, और देखने की प्यास हो तो परमात्मदर्शन की हो।

यह तो हुई शरीरयात्रा की बात, अब मन की ओर भी देखें, यह मन समस्त इन्द्रियों एवं शरीर का आयतन है, मनरूप केन्द्र या कीली पर ठहर कर सारी इन्द्रियां घूमती रहती हैं तथा समस्त शरीर भी उसी पर नाचता रहता है। मन की प्रतिकूल दिशा से इन्द्रियों की घूम भी प्रतिकूल हो जाती है और मन की अनुकूल दिशा से इन्द्रियां भी अनुकूल दिशा में घूमने लगती हैं। मन को यदि परमात्मा के मनन में लगा दें तो इन्द्रियां संसार में भटकना छोड़ दें।

प्यारे वन्धु ! तूने मन के ऊपर बहुत उत्तरदायिता (जिम्मेदारी) सोंपी हुई हैं जोकि उसकी नहीं किन्तु तेरी निजी अर्थात् आत्मा की हैं। आन्तरिक प्रयत्न और आन्तरिक ज्ञान ये दो जिम्मेदारियां हैं जोकि आत्मा के गुण हैं उसे उन्नत करने वाले हैं, न्याय दर्शन में कहा है "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" (न्याय) आत्मा का इच्छा गुण है सुख के लिये और द्वेष है दुःख के लिये, दुःख को हटाने और सुख को पाने के लिये ही जीवनयात्रा है परन्तु इस में पदे पदे असफलता मिलती है जिस का कारण है मन पर सब उत्तरदायित्व का सोंप देना या उस के ऊपर से अपने स्वामित्व को उठा लेना। अन्ततः ! प्रयत्न और ज्ञान जो आत्मा के दो धर्म हैं उन से स्वयं काम लेना चाहिये। यदि मनुष्य अपने आन्तरिक प्रयत्न (अध्यात्मकर्म) रूप अङ्कुश से मन हाथी को नियन्त्रित कर ज्ञान--आन्तरिक ज्ञान (अध्यात्मज्ञान) रूप प्रकाश में चलावे तो यह

सङ्कट वन को पार कर अपने लक्ष्यरूप प्राप्तव्यरूप अमरधाम को पासके।

प्यारे अमृत पुत्र! स्मरण रख, इस मानवजीवन के परम ध्येय दो ही हैं। एक तो मृत्यु को तरना दूसरे अमृत या अमरत्व अमरपद को पाना। यह प्रत्येक की भीतरी इच्छा है, प्रत्येक चाहता है कि मैं न मरूं सदा अमर बना रहूं किन्तु मृत्युपाश बड़ा विस्तृत है प्रत्येक को इस का ग्रास बनना ही पड़ता है यह भीतरी इच्छा इसे सङ्केत अवश्य देती है कि कोई साधन ऐसा है जिसके द्वारा मृत्यु को तर सकता है और अमरत्व या अमरधाम को प्राप्त कर सकता है। यह ऐसी ही बात है जैसे किसी जलप्रवाह को तरना पुनः भूमिस्थल को प्राप्त करना। तैरने का साधन नौका और चप्पू हैं। संसार में सवत्र बहते हुए मृत्युप्रवाह को तैरने का साधन यहां भी दो कहे हैं जोकि आन्तरिक प्रकृति अर्थात् मन और आन्तरिक कर्म अर्थात् कर्मयोग हैं। मन के मनन- एकाग्र--निरोधरूप नौका को कर्मयोग यमनियमासनप्राणायामादि (योगाभ्यास) रूप चप्पू से ढकेलते हुए मृत्युप्रवाह को तरकर पार अमर भूमि ब्रह्म या मोक्ष को पाना है अध्यात्म सृष्टि—श्रोत्रादि संघात से अमरधाम ब्रह्म का श्रवण करना उस ओर पग रखना है और अध्यात्मज्ञान—परमात्मदर्शनरूप परवैराग्य से उसे प्राप्त करना ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

अन्वयार्थ—(हिरण्मयेन पात्रेण) सुनहरे पात्र से--चमकीले भोगविलासमय बाह्य जगद्रूप ढक्कन से (सत्यस्य मुखम्) सत्य अर्थात् सत्यतत्त्व ब्रह्म का स्वरूप (अपिहितम्) ढका गया है (तत्) उसे (पूषन्) हे जीवात्मन्! (त्वम्-अपावृणु) तू हटादे-अपने सामने से दूर करदे-उस से उपेक्षा करले (सत्यधर्माय दृष्टये)-सत्य धर्म -एकरस निर्विकार स्वरूप वाले ब्रह्म के देखने को ॥

प्रवचन—प्यारे भद्रजन! तुझे "विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति" विषयक उपदेश से यह ज्ञात हो गया होगा कि अमरस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति श्रोत्रादि इन्द्रियों और मन को श्रवण तथा मनन में लगाकर कर्मयोग और ज्ञान योग से होती है अतः अब तुझे इस ध्येय के लिये निश्चय करना उठ खड़े होना और उस ओर चल पड़ना चाहिये। यह उत्साहपूर्ण भाव तेरे अन्दर से ही उपजना चाहिये, तुझे पूर्ण निश्चय से यह प्रथम कार्य करना है कि सत्यतत्त्व को ढके हुए पात्ररूप इस भांति भांति के जगत् को बाहिरी दृष्टि से तू न देख, किन्तु देख इसके अन्तः स्थल में[1]। बाहिर से उपेक्षा कर क्योंकि बाहिरी

[1] उर्दू के कवि ने कहा है—

सागरे जरीं हो या हो मिट्टी का एक ठीकरा
तू नजर कर जो कुछ उसके अन्दर है भरा॥

सोने का बर्तन हो या मिट्टी का ठीकरा हो, ऊपर से मत देख, तू देख उसके अन्दर क्या भरा है।

दृष्टि से सत्य का दर्शन न होगा। बाहिरी प्रवाह में तैराई न कर किन्तु गहराई में जा और देख इस भांति भांति के दृश्य में यह सुनहरीपना किसका प्रतिभासित होरहा है ? वस्तुतः वह सत्यतत्त्व ब्रह्म ही इसे यह भांति भांति का रूप दे रहा है, उसी अन्तर्निहित (भीतर छिपे हुये) विश्वात्मा परमात्मा की ओर अपनी इन्द्रियशक्तियों और मन को लगा दे। वीर के लिये श्ववृत्ति त्याज्य और सिंहवृत्ति ग्राह्य है, श्वा अर्थात् कुत्ते के सम्मुख ढेला आदि फेंकने पर वह ढेले आदि के पीछे दौड़ता है किन्तु सिंह ढेले या गोली आदि के पीछे नहीं जाता प्रत्युत जिधर से वह ढेला या गोली आदि आई हो उधर दौड़ता है, बस तू अपने ध्येय की पूर्ति में सिंह के सदृश वीर बन कर इस बाह्य दृश्य के प्रेरक की ओर चल॥॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसा-
वसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(एकर्षे यम प्राजापत्य सूर्य पूषन्) हे शरीर में एकाकी चेतन ज्ञाता--इन्द्रियों और मन के नियमन करने वाले--प्रजापति परमेश्वर के पुत्र--सूर्यरूप--जीवात्मन् ! तू (व्यूहरश्मीन समूह) फैलने वाली रश्मियों--शक्तिवृत्तियों को एकत्र कर--अन्तर्लीन कर। पुनः (ते) तेरा (यत्) जो (कल्याणतमं रूपं तेजः) अत्यन्त कल्याणमय रूप तेज है (तत्--ते) उस

तेरे तेजोरूप को (पश्यामि) मैं देख सकूं । पुनः कह सकूं कि (यः--असौ--असौ पुरुषः) जो अमुक अमुक पुरुष--चेतन आत्मा (सः--अहम्--अस्मि) वह मैं हूँ [१] ।

प्रवचन—प्यारे पात्र ! तेरे उठने को यह दूसरी चेतावनी है बाहिरी जगत् से उपेक्षा करने के अनन्तर अब तुझे अपनी पड़-ताल करनी है—अपने को समझाना है--तू शरीरेन्द्रियरूप मांस का पुतला नहीं है तू एक ज्ञानवान् चेतनतत्त्व है, शरीर इन्द्रिय आदि का अधिष्ठाता और जगदीश देव का अमृतपुत्र सूर्य के समान शरीरसंसार में चेतना से प्रकाशमान है । यदि तू अपनी किरणरूप शक्ति वृत्तियों को बाहिर न बिखेर कर अन्दर की ओर एकत्र करे तो फिर अपने सूर्यसमान तेजस्वी रूप को देख कर समझ सकेगा कि तू क्या वस्तु है, तू मर्त्य (मरणधर्मा) शरीर नहीं किन्तु अमर आत्मा है, तब ही तू अपने निजी प्रयत्न और ज्ञान से विश्वात्मा परमात्मा की ओर बिना किसी विघ्न-बाधा के चल सकेगा--उसके सत्सङ्ग को प्राप्त कर सकेगा । यह बात ठीक है जब तक मनुष्य अपने को -- अपनी शक्ति को न समझ ले वह खड़ा नहीं होसकता--उद्यम नहीं कर सकता अपितु गिरा रहता है मनुष्य में शक्ति बहुत है उसे जगा कर

---

[१] जैसे कोई बन्धीघर में बन्धनों से बन्धा हुआ बलवान् पुरुष किसी जेल कर्मचारी के सताने पर कहता है कि अब तो मैं शक्तिहीन हूँ परन्तु जब मैं इससे छूटूं फिर मैं बतासकूंगा कि मैं क्या हूँ या मैं ऐसा ऐसा हूँ ।

और बढ़ाकर कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव तक प्रतीत होने वाले कार्यों को भी कर पाता है वस्तुतः यह आत्मनिरीक्षण की शिक्षा है, संसार में जितने भी बड़े बड़े सुधारक या महात्मा हुए हैं वे आत्मनिरीक्षण से ही हुए हैं, उन्होंने अपने को सच्चे रूप में समझकर निर्बलताओं को हटा अपने को शक्तिमय बना कर संसारसंघर्ष में विजय पाया और अपने को अमर बनाया ॥ १६ ॥

> वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ꣳ शरीरम् ।
> ओं क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृत ꣳ स्मर ॥१७॥

अन्वयार्थ—(वायुः) बाह्य वायु (अनिलम्) आन्तरिक वायु को-प्राण शक्ति को धारण करता है। और वह (अमृतम्) मरणधर्मरहित अमर जीवात्मा को धारण करता है (अथ) अनन्तर-ऐसा संगठन न करने पर-किसी एक का भी अभाव होजाने पर (शरीरं भस्मान्तम्) शरीर भस्मान्त है—भस्म--नाश होजाना है अन्त में जिसका अर्थात् नश्वर है अतः (क्रतो) हे क्रियाशील एवं प्रज्ञानवान् जीव ! तू (ओं स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिवे स्मर) अपने सामर्थ्य के निमित्त स्मरण कर (कृतं स्मर) कर्म का स्मरण कर अर्थात् कर्तव्य का स्मरण कर [1] ॥

---

[1] इस मंत्र का विशेष अर्थ देखो हमारे लिखे कठोपनिषद् भाष्य की भूमिका में, यह मन्त्र कठोपनिषद् का मूल है अतएव इसका विस्तृत अर्थ वहां किया है।

प्रवचन—प्यारे ज्ञानवान् जन ! जिस शरीर पर तू अभिमान करता है क्या तुझे पता है कि इसका अस्तित्व क्या है ? प्यारे ! यह तो भस्मान्त-नश्वर है । इसे अग्नि से जलजाना है या जल से गल जाना है या रोगों से सड़ जाना है या शस्त्रास्त्रों से कट जाना है अथवा अन्य प्रकार से छिन्न भिन्न होजाना है या जरा से जीर्ण होजाना है फिर तेरा इस पर अभिमान करना उचित नहीं । तू इसे 'मैं' (अपना आपा) भी समझे बैठा है, देख ! यदि शरीर ही 'मैं' वस्तु हो तो फिर शव (मुरदा) भी 'मैं' कहसके बोल उठे और चल फिर सके, अतः यह भी तेरी भूल है जो इसे 'मैं' समझे हुए है । वह 'मैं' इस नश्वर शरीर से भिन्न है वास्तव में इस शरीर में तीन पदार्थ ऐसे हैं जिनके रहने पर यह शरीर इस अवस्था में रहता है या जीवित कहलाता है और जिनके न रहने पर यह शव (मुरदा) बन कर नष्ट होजाता है। उन तीन में एक वस्तु है अमर जीवात्मा जिसे प्रत्येक मनुष्य 'मैं' रूप में अनुभव करता है, दूसरी वस्तु है प्राणशक्ति या हृदयस्थ जीनशक्तिरूप प्राण और तीसरी वस्तु बाह्य वायु है। इन में से किसी एक का विच्छेद या अभाव होजाने पर शरीर इसरूप में नहीं रहसकता, वायु न मिले तब शरीर मृत होजावेगा प्राणशक्ति या हृदयस्थ जीवनशक्तिरूप प्राण समाप्त होजावे + । तो देह मुरदा बनजावेगा और अमर जीवात्मा इस शरीर को छोड़ जावे❀ तो भी शरीर विनष्ट होजावेगा। फिर इस शरीर

\+ रोगों, आघातों एवं हृद्गतिभङ्ग (हार्टफेल) आदि द्वारा ।

❀ " योगेनान्ते तनुत्यजाम् " योगरूप स्वात्मबल से शरीर छोड़ने वालों का ।

के मोह में कालयापना क्यों करता है ? तू अपनी शक्ति को पहिचान (अपने को समझ), अपने कर्तव्य को सोच, अपने अन्तर्यामी परमात्मदेव का स्मरण कर । प्यारे ! मनुष्य अपने जीवन में अनेकों और असंख्यों का स्मरण करता है, आयुभर विविध स्मरणों के अभ्यास में लगादेता है परन्तु अन्त में कोई स्मरण भी काम नहीं आता अपि तु वे मृत्युरूप गहरे दुःखसागर में डुबकियां ही देते हैं किन्तु एक ओ३म् का स्मरण ही मृत्युरूप गम्भीर दुःख सागर में डुबकियां खाने से बचाता है विमान में बिठाकर व्योम में उड़ा लेजाने की भांति ऊपर उभार कर अपने अमृत शरण में ले लेता है अत एव प्यारे भद्र जन ! तुझे उस ओ३म् का स्मरण ध्येय बना लेना चाहिये ॥ १७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अग्ने देव) हे अग्रणायक प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! तू (विश्वनि वयुनानि विद्वान्) समस्त प्रज्ञानों—हमारे योग्य चलने के उपायों मार्ग-दिशाओं को जानने वाले हैं । अतः (अस्मान्) हमें (राये) जीवनैश्वर्य के लिये—मोक्ष-सम्पत्ति के निमित्त (सुपथा) सुमार्ग से (नय) ले चल तथा (अस्मत्) हमारे से (जुहुराणम्–एनः) कुटिल या अनुचित पाप एवं त्रुटि को (युयोधि) अलग करदे (भूयिष्ठां ते नमः-

उक्तिम्) बहुत बहुत नमन उक्तियां—नम्र भावनाएं (ते विधेम) तेरे लिये समर्पण करते हैं ॥

प्रवचन—प्यारे पथिक ! सब कुछ तैयारी के पश्चात् अब तो तुझे श्रेय: मार्ग में चलने के लिये एक उपाय शेष है और वह यह कि तू पूर्णरूप से अपना समर्पण उस अन्तर्यामी अग्रणायक परमात्मा को करदे क्योंकि वह सर्वज्ञ है, जहां वह तेरी त्रुटियों को जानता है साथ में दयालु भी है जब तू उसके प्रति अपने को सौंप देगा तो तेरे अन्दर से त्रुटियों को दूर कर अपने ज्ञानप्रकाश में जीवन के श्रेष्ठमार्ग पर चलाते हुए आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न कर देगा अमरत्व का लाभ करा देगा और तू भी कृतकृत्य हो अपने को धन्य मानेगा पुनः संसार में तुझे न कोई भटका सकेगा न विचलित कर सकेगा और अपनी जीवनयात्रा को सफल बना सकेगा ॥१८॥

ईशोपनिषद् समाप्ता

६।८।१९४९ ई०

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

३२

केनोपनिषद् दीपिका—

कुछ शब्द

ईशोपनिषद् पर 'ईशोपनिषद् दीपिका' नाम से भाष्य लिखने के अनन्तर केनोपनिषद्' पर यह' केनोपनिषद्दीपिका'नाम से भाष्य पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जाता है। यह उपनिषद् सामवेद के ब्राह्मण का भाग होने से सामवेदीय है और तवल्कार शाखा में होने से 'तवल्कारोपनिषद्'भी इसे कहते हैं। 'केनेषितं' वचन से इसका प्रारम्भ होने से 'ईशोपनिषद्' की भाँति इसे 'केनोपनिषद्' कहते हैं। प्रत्येक उपनिषद् का ब्रह्मविद्या-वर्णन-क्रम अपने अपने ढङ्ग का अलग-अलग अलग है। इस उपनिषद् में 'केन, कः, किम्' अर्थात् किसने, कौन, क्या ऐसे प्रश्नों को उठाकर ब्रह्म का विवेचन किया है। ज्ञेय पदार्थ जिज्ञासा पर निर्भर है और जिज्ञासा विना प्रश्न के नहीं बनती चाहे प्रश्न प्रकट रूप में हो या गुप्त रूप में, प्रश्न का होना जिज्ञासा में अनिवार्य है। प्रश्न यदि केवल तर्कवितर्क के लिये न होकर जिज्ञासा के लिये ही हो तो मनुष्य अपने ध्येय की खोज करसकता है, वेद में भी प्रश्न की शैली से अनेक स्थलों पर जिज्ञास्य विषय पर प्रकाश डाला गया है "किमासीद् गहनं गभीरम्" (ऋ० १०।१२९।१) "किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः" (ऋ० १०।८१।४) इत्यादि विस्तारभय से यहां नहीं देते। यह एक रहस्य इस उपनिषद्का है जो कि मनोवैज्ञानिक ढंग ज्ञानविकास एवं आत्मविकास तथा ब्रह्मज्ञान का है। इस भाष्य में मैं 'ईशोपनिषद् दीपिका' की भांति अन्वयार्थ, स्पष्टीकरण, आशय और क्वचित् क्वचित् प्रवचन दिए हैं ॥

ब्रह्ममुनि स्वामी परिव्राजक

३२१

केनोपनिषद् दीपिका

प्रथम खण्ड

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।१।

अन्वयार्थ—(केन प्रेषित) किस देव+ से प्रेरित हुआ—किस देव की प्रेरणा से (मनः) मन (इषितं पतति) अभीष्ट की ओर गिरता है—वाञ्छित विषय पर पहुँचता है (केन युक्तः) किस देव से योजित या नियुक्त हुआ (प्रथमः प्राणः) प्रथम-सर्व प्रथम-सर्व श्रेष्ठ-मुख्य वना प्राण (प्रैति) प्रगति करता है-श्वासनिःश्वास लेता है तथा समस्त शरीर में प्राणनक्रिया या जीवनसञ्चार करता है (केन-इषिताम्) किस देव से प्रेरित हुई (इमां वाचम्) इस वाणी को (वदन्ति) बोलते हैं (चक्षुः श्रोत्रम्) आंख कान को (कः-उ देवः) कौनसा देव (युनक्ति) नियुक्त करता है ? ॥ १ ॥

प्रवचन—केनोपनिषद् के रचयिता ऋषि एकान्त शान्त स्थान में समासीन हैं, उनके सम्मुख बाहिरी और भीतरी

+ 'क उ देवो युनक्ति' में देव शब्द आया है।

सृष्टियों के पदार्थ अपने अपने स्वरूप को दिखला रहे हैं साथ में अपने से भिन्न किसी विभुसत्ता का बोध करा रहे हैं। प्रथम भीतरी सृष्टि के पदार्थ उनके सामने आते हैं अपने अपने अद्भुत स्वरूप को बताते हैं।

मन की लीला—

'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'—मन की लीलाओं को देख कर ऋषि कह उठता है कि किसकी प्रेरणा से यह मन अपने अभीष्ट विषय की ओर तुरन्त चला जाता है—ऐसा कौन देव है जिसने इस मन में इतनी शक्ति दी है ? यह एक समस्या ऋषि के सामने है जैसे बाहिरी जगत् में विद्युत् है एवं भीतरी जगत् में मन विद्युत जैसी वस्तु है, विद्युत का सहसा पतन होता है तो मन भी तुरन्त विषय पर पतन करता है अतएव उक्त वचन में 'पतति' शब्द दिया है। विद्युत् क्षणभर में पूर्व में चमकी तो क्षणभर में पश्चिम में चमक उठती है। इसी प्रकार मन क्षण-भर में पूर्व में तो क्षणभर में पश्चिम में दौड़ जाता है। दूर से दूर दिशा, देश और काल में मन पहुँच जाता है उसकी गति में दिशा देश और काल तनिक भी अन्तर या बाधा नहीं डाल सकते। ऐसी शक्ति इस मन में किसने दी है ? यह विचार है। इतना ही नहीं मन अपनी अनेकविध और असंख्य लीलाओं को ऋषि के सम्मुख दिखलाता है—जागते हुए यह मन दूर से दूर दौड़ लगाता है तो सोते हुए भी दूर से दूर पहुंच जाता है, समस्त इन्द्रियचक्रों को घुमाता है अपने अनुकूल चलाता है

अपितु मनुष्यों को भी घोड़ों की भांति स्वाधीन कर जहां तहां भटकाता है भगाता है, पिछले को याद कराता है वर्तमान को दिखाता है अगले को सुझाता है। मन ही तो मनुष्य को कलाकार, विज्ञ, विद्वान् और वैज्ञानिक बनाता है। संसार में विविध कल-कारखाने यन्त्र और आविष्कार मन के ही तो खेल हैं। मन ही तो कभी हंसाता है कभी रुलाता है कभी हर्षाता है और कभी तपाता है, सुखी-सम्पन्न और दुःखी-दरिद्र भी तो यही बनाता है। पापी-पामर, नीच-निकृष्ट और ध्यानी-धर्मात्मा, मनस्वी-महात्मा एवं ऋषि-मुनि भी यही कहलवाता है। लोभ, मोह, शोक, क्रोध, रोग-दोष तथा छल-छद्म, दम्भ-दर्प, भय-भ्रम का त्रास भी मनुष्य को यही बनाता है। सुख-शान्ति, प्रेम--पुण्य, बन्ध-मोक्ष भी मन के ही फल हैं। मन ही मनुष्य को धीर, वीर, गम्भीर और ध्यानी, ज्ञानी, मानी बनाता है। मन ही संसार में अपने पराए का जाल बिछाता है इत्यादि। मन की अगण्य शक्तियों और लीलाओं को देख कर ऋषि कह उठता है कि किस देव ने इस मन में इतनी शक्ति दी है। मन के स्वस्थ निर्दोष होने से शरीर भी स्वस्थ और नीरोग रहता है मन के अस्वस्थ और सदोष होने से शरीर भी अस्वस्थ और सदोष हो जाता है। मन के दूषित होने से अनेक जन सोते हुए बड़बड़ाने लगते हैं और कई एक महानुभाव नींद में ही बिस्तर छोड़कर इधर-उधर भटकने लगते हैं—वृक्ष पर चढ़ जाते हैं बाहिर जङ्गल में निकल जाते हैं। मन ही मनुष्य को

उठाता है और मन ही गिराता है, संसार में बड़े बड़े नेता महात्मा भी मन के कारण बने। मन ही समाज, राष्ट्र एवं देश को बनाता और विगाड़ता है। समाज के विद्वान् या प्रमुख का मन विगड़ जाता है तो समाज विगड़ जाता है। राष्ट्र या देश के नेता एवं शासक का मन विगड़ता है तो समस्त राष्ट्र या देश का अधःपतन हो जाता है। भारत का स्वातन्त्र्य नष्ट हो जाने का कारण भी मन है—शासकों के मन में परस्पर वैमनस्य, भेदभाव, विरोध एवं स्वार्थपरायणता और फूट के विचार आए तो विदेशी लोगों की अधीनता दासता को सहना पड़ा तथा भारत का वैभव और स्वातन्त्र्य दूसरों के हाथों में चला गया। ऐसे विलक्षण मन को देखकर ही ऋषि कह उठे कि किस देव ने इस मन में इतनी शक्ति दी है या ऐसा कौन देव है जिस ने ऐसी शक्ति इसमें दी है ?

प्राण की क्रीड़ा—

'केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः'— अब प्राण की क्रीड़ा को देखकर ऋषि के अन्दर दूसरी विचारधारा उठी कि किस देव से नियुक्त हुआ प्राण मुख्य बन अपनी क्रिया कर रहा है ऐसा कौन देव है जिसने शरीर में प्राण को मुख्य या सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है, उसे अपनी क्रिया में लगाया। शरीर के अस्तित्व का आधार प्राण है, प्राण ही समस्त शरीर की गति का कारण है और इन्द्रियों में भी अपने अपने विषय में प्रवृत्ति की शक्ति यही देता है। नासिका में सूंघने जिह्वा में रस लेने आंखों

में देखने त्वचा में स्पर्श जानने कानों में सुनने और मन में समझने आदि का व्यवहार प्राण के कारण ही है, प्राण के बिना ये कुछ भी नहीं कर सकती हैं। ऋषि के सम्मुख प्राण की मुख्यता या प्रबलता का एक और चित्र खिंच गया वह यह कि एक बार प्राण तथा इन्द्रियों में विवाद हुआ प्रत्येक अपने को मुख्य एवं प्रधान मानने लगा, वाणी कहने लगी मैं वसिष्ठा हूँ चाहे जिस वस्तु में बस जाती हूँ उसका नाम रखदेती हूँ उसनाम से मैं छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी एवं अतिनिकट अतिदूर आंखों से ओझल अपितु मन से भी परे वस्तु को पकड़ लेती हूँ उसे पकड़ मनुष्यों के सामने रख देती हूँ अतः बड़ी हूँ, नेत्र ने कहा मैं इस शरीर में मुख्य हूँ क्योंकि मैं प्रतिष्ठा हूँ मेरे कारण से किसी भी वस्तु की साक्षात् सत्ता स्वीकार होती है, मैं जिसे प्रतिष्ठित एवं स्थापित कर देती हूँ उसे कोई हटा नहीं सकता, मैं जहां देख लेती हूँ वहीं कोई भी प्राणी प्रतिष्ठित होता है—पैर रखता है उधर ही चलता है अतः मैं मुख्य हूँ। श्रोत्र ने कहा मैं बड़ा हूँ क्योंकि मैं सम्पत् हूँ मेरे द्वारा ही मनुष्य के अन्दर सम्पत्ति जाती है जो कि अन्दर स्थिर रहती है जिसका कभी व्यय नहीं होता, जब तक मैं मनुष्य को कुछ न सुनाऊं तब तक वह बाहिर से किसी भी सम्बन्ध में ज्ञानसम्पत्ति नहीं ले सकता और न वह मनुष्य बन सकता है अतएव मैं बड़ा हूँ। मन ने कहा मैं बड़ा हूँ क्योंकि मैं आयतन हूँ—आश्रय हूँ मेरे आधार पर

सारी इन्द्रियां नाचती हैं और सारा शरीर गति करता है। मैं जिस इन्द्रिय के साथ सहयोग न दूं वह अपना काम नहीं कर सकता अतः मैं बड़ा हूँ। इस प्रकार विवाद के बढ़ जाने पर प्रजापति ने निर्णय दिया कि जिस के रहते हुए यह शरीर बना रहे और जिसके न रहने पर यह नष्ट हो जावे वह मुख्य है बड़ा है सो वाणी एक वर्ष का अवकाश ले गई शरीर का कुछ भी न बिगड़ा, वाणी लौटी तो पूछा कि मेरे बिना शरीर कैसे रहा उत्तर मिला गूंगे की भांति। नेत्र एक वर्ष को चली गई लौटने पर पूछा शरीर कैसे रहा उत्तर मिला अन्धे की भांति। श्रोत्र चला गया लौटने पर पूछा शरीर कैसा रहा उत्तर मिला बधिर (बहिरे) के जैसे। पुनः मन भी एक वर्ष के लिये चला गया लौटने पर पूछा कैसे रहा उत्तर मिला उन्मत्त या अबोध बालक की भांति। सब सब के पश्चात् प्राण ने कहा कि अब मेरी बारी अवकाश लेने की है, एक वर्ष का अवकाश तो नहीं लेता पर कुछ पलों का ही लेता हूं, चला प्राण निकलने तो सारी इन्द्रियां भी निस्तेज शक्तिहीन और शिथिल होने लगीं तो प्राण को बोली आप न निकलें आप हम सब में श्रेष्ठ हैं मुख्य हैं। इसप्रकार प्राण की मुख्यता का चित्र ऋषि के सम्मुख खिंच जाता है—ऋषि कहने लगता है किस देव ने शरीर में प्राण को ऐसा मुख्य रूप में स्थापित किया ?

वाणी की विचित्रता—

'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति'—वाणी का भी ऋषि के

सम्मुख विचित्रस्वरूप आ रहा है। वाणी जहां प्रत्येक वस्तु का नाम देकर उसे पकड़ लेती है साथ में वाणीद्वारा एक के विचार दूसरे तक पहुँचते हैं। वाणी ही परस्पर एक दूसरे को गहरा मित्र बनाती है और वाणी ही प्राणघात करने वाला शत्रु भी बना देती है। वाणी जब विशेष शृङ्खलित या सुसज्जित होती है तो संगीत का रूप धारण कर लोगों को मोह लेती है और प्राणी मात्र को अपनी ओर खींच लेती है। वाणी की यथार्थता के पीछे लोग चल पड़ते हैं और प्राण तक न्योछावर कर देते हैं। अहो! ऐसी विचित्रता इस वाणी में किस देव ने दी है?

चक्षु (आंख) की महिमा—

'चक्षुःश्रोत्रं क उ देवो युनक्ति'—आंख ऋषि के सम्मुख अपनी प्रदर्शनी दिखलाती है, छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु तक में व्याप जाती है। यन्त्रों के सहारे अतिसूक्ष्म तन्तुओं और बिन्दुओं के भी विभागों में पहुँच जाती है और दूर से दूर आकाशीय पिण्डों ग्रहतारों की भी पड़ताल कर लेती है। आंखों की दृष्टिप्रणाली या दृष्टिधारा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बन जाती है और महती से महती हो जाती है। ऐसी शक्ति इसमें किस देव ने रखी है, वह कौन देव है जिसने आंख को ऐसा विचित्र बनाया?

श्रोत्र (कान) की कला—

'चक्षुःश्रोत्रं क उ देवो युनक्ति'—श्रोत्र भी ऋषि के सम्मुख

अपने कलास्वरूप को दिखला रहा है। व्याख्याता के मुख से शब्द एक निकलता है पर सहस्रों बैठे मनुष्यों के कानों में अलग अलग सुनाई पड़ता है। सब के कानों में तार की भांति पहुँच जाता है, कान की रचनाकला किस ढंग की विचित्र बनी है जो बोले हुए तथा फैले हुए शब्द से उठी वायु में या आकाश में तरङ्ग श्रोत्ररूप यन्त्र के ऊपरले परदे को छूते ही शब्द का वैसा ही गूंजन अन्दर पहुँचाता है जैसा बाहिर वक्ता आदि से प्रकट हुआ यह ऐसी शक्ति या कला किस देव ने इस कान में रखी है? ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं ꣳ स उ
प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्मा-
ल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ—(श्रोत्रस्य श्रोत्रम्) उस देव को श्रोत्र का श्रोत्र (मनसः-मनः) मन का मन (यद् वाचः-ह-वाचम्) और वाणी का वाणी कहते हैं (सः-उ) वह ही देव (प्राणस्य प्राणः) प्राण का प्राण (चक्षुषः-चक्षुः) नेत्र का नेत्र है (धीराः) ध्यानी जन (अतिमुच्य) इन श्रोत्र मन वाणी आदि के बन्धन से छूट कर (अस्मात्-लोकात् प्रेत्य) इस लोक से मर कर या पृथक् होकर (अमृताः-भवन्ति) अमृत-अमर होजाते हैं।

आशय—उक्त ऋषि ने मन आदि इन्द्रियों की विविध लीलाओं और शक्तियों का भली भांति विवेचन कर उनके पीछे जिस देव को समझा जिसकी प्रेरणा से यह सब मन आदि

इन्द्रियां अपना अपना खेल या महत्त्व दिखला रहे हैं वह ऋषि की विचारधारा में इस प्रकार आता है कि 'वह देव श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन वाणी का वाणी प्राण का प्राण और नेत्र का नेत्र है। क्योंकि वही इन श्रोत्र मन आदि में श्रोत्रत्व और मनस्त्व आदि देता है, इनकी महत्ता उसी की महत्ता है इसलिये धीर जन इन इन्द्रियों के वशीभूत न होकर इनसे विरक्त होकर उस महिमवान् शक्तिमान् शक्ति के आगार की शरण लेना चाहते हैं क्योंकि इन अध्रुव अस्थिर नश्वर वस्तुओं में लिप्त रहने से वह ध्रुव स्थिर अमर वस्तु प्राप्त नहीं होता, अन्यत्र कहा भी है "ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते" (कठो० २।१।२) अतएव नश्वर सम्बन्ध से ऊपर उठ अनश्वर अमर-तत्त्व को प्राप्त करते हैं।

> न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो
> न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव
> तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये
> नस्तद् विचचक्षिरे ॥३॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहां—उस देव में (चक्षुः) आंख (न गच्छति) नहीं जाती है (न वाक्-गच्छति) न वाणी जाती है (नो मनः) न ही मन जाता है (न विद्मः) न हम जानते हैं (न विजानीमः) न पहिचानते हैं—(यथा-एतत्-अनुशिष्यात्) जैसा कि इसे दूसरे को ज्यों का त्यों समझा सकें। क्योंकि (तत्) वह (विदितात-अन्यत-एव) विदितं

से अन्य ही है-उसे विदित अर्थात् जान लिया गया ऐसा नहीं कह सकते—उसका जानना अभी रहा है—जितना जाना अल्प ही जाना (अथो) और (अविदितात्—अधि) अविदित से भी परे है—उसे अविदित भी नहीं कहा जासकता—जाना ही नहीं जासकता ऐसा भी नहीं है या भविष्य में जान चुका जायगा ऐसा भी नहीं (इति पूर्वेषां शुश्रुम) ऐसा पूर्व आचार्यों का कथन सुनते हैं (ये) जो (नः) हमें (तत्) उसका (विचचक्षिरे) व्याख्यान करते थे।

स्पष्टीकरण—एक देव है जिसकी प्रेरणा से नेत्र वाणी आदि अपना अपना कार्य करते हैं, यह देव यद्यपि नेत्र का नेत्र वाणी का वाणी मन का मन और प्राण आदि का भी प्राण आदि है, परन्तु नेत्र उस देव को देख नहीं सकता उसका आकार-प्रकार अपने सामने नहीं खींच सकता, वाणी उस देव का स्वरूप व्याख्यान नहीं कर सकती उसकी इयत्ता नहीं बता सकती, मन उसको अपने अन्दर नहीं बिठा सकता उस की सीमा निर्धारित नहीं करसकता, फिर ऐसे उस देव को हम दूसरों को कैसे बतावें समझावें। इस लिये हमें यही कहना पड़ता है कि हम उसे न ऐसा जानते हैं और न ही ऐसा पहिचानते हैं जो दूसरे को ज्यों का त्यों या यथावत् समझा सकें। वस्तुतः वह तो विदित अर्थात् ज्ञात से और अविदित अर्थात् अज्ञात से भी परे है। उसे विदित या ज्ञात कहना उसे परिमित बनाना है और उसे अविदित या अज्ञात कहना उसे

अवस्तु ठहराना है। वह सर्वथा ज्ञेय या सर्वथा अज्ञेय नहीं किन्तु ज्ञेय है पर सामर्थ्यानुसार ज्ञेय है पूर्ण ज्ञेय नहीं। विदित जाना गया ऐसा भूतकालिक प्रयोग का वह विषय नहीं और अविदित भूतकाल से भिन्न भविष्यत्काल-विषयक जाना जासकेगा ऐसा भी नहीं कहा सकता किन्तु उसके जानने में वर्तमान का प्रयोग ही सार्थक हो सकता है कि अभी उसे जान रहा हूं, न जान चुका और न जान चुकूंगा ऐसा कहने योग्य है। वह अनन्त है उसे जितना जाना जायगा वह थोड़ा ही जाना जायगा। बस यही पुरातन ऋषि मुनि निरभिमान हो उस के जानने में निरन्तर लगे रहते थे, उसका निरतिशय ज्ञेय होना ही उसकी महत्ता का द्योतक है और उस से उपराम न हो सकने का हेतु है, संसार की वस्तुओं में यह न्यूनता पाई जाती है कि उसे जहां जान लिया बस मन वहां से उपराम हो जाता है हट जाता है उसे तुच्छ और सीमित बना देता है पुनः उस से अरुचि करके किसी ऊंची या बड़ी वस्तु के प्रति दौड़ जाता है, ऐसे पुनः पुनः मन का भटकना या अविश्राम बना रहता है पर उस देव में तो पूर्ण विश्राम ही प्राप्त होता है ॥३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (वाचा) वाणी से (अनभ्युदितम) कथित नहीं होता किन्तु (येन) जिसके द्वारा (वाक्) वाणी

(अभ्युद्यते) बोली जाती है (तत्-एव ब्रह्म) उस ही को ब्रह्म (त्वं विद्धि) तू जान (न-इदम्) यह ब्रह्म नहीं है (यत्-इदम्) इस जिसकी 'वाणीद्वारा' (उपासते) लोग उपासना करते हैं ॥४॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।तदेव ब्रह्म त्वं० ॥५॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस को मनुष्य (मनसा) मन से (न) नहीं (मनुते) विचार सकता (येन) जिसके द्वारा (मनः-मतम्) मन मननक्रिया को प्राप्त होता है (तदेव०) उसी को तू ब्रह्म जान यह ब्रह्म नहीं है जिस की लोग मन के द्वारा उपासना करते हैं ॥५॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति । तदेव०॥६॥

अन्वयार्थ—(यत) जिसको (चक्षुषा) आंख से (न पश्यति) मनुष्य नहीं देखता है (येन) जिसके द्वारा (चक्षूंषि) आंखें (पश्यन्ति) देखती हैं (तदेव०) उस ही को तू ब्रह्म जान यह ब्रह्म नहीं है जिसे आँखों से देख उपासना करते हैं ॥६॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । तदेव० ॥७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिसे (श्रोत्रेण) कान से (न शृणोति) मनुष्य नहीं सुन पाता (येन) जिसके द्वारा (इदं श्रोत्रम्) यह कान (श्रुतम्) सुनने की क्रिया को प्राप्त होता है (तदेव०) उसी को ब्रह्म जान यह ब्रह्म नहीं है जिसकी लोग कान के द्वारा

उपासना करते हैं ॥ ७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव० ॥८॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (प्राणेन) प्राण से (न प्राणिति) प्राणन क्रिया में नहीं आता है (येन) जिसके द्वारा (प्राणः) प्राण (प्रणीयते) प्राणन-क्रिया करता है (तदेव०) उसी को तू ब्रह्म जान यह ब्रह्म नहीं है जिसकी प्राण के द्वारा लोग उपासना करते हैं ॥ ८ ॥

आशय—

'यद्वाचा' से लेकर 'यत्प्राणेन' पांच वचनों में उपनिषत्कार ने यह स्वयं प्रतीत किया और हम पाठकों को बतलाया कि वह जिज्ञास्य और उपास्य देव ब्रह्म है परन्तु वह वाणी, नेत्र, श्रोत्र, प्राण और मन से ग्रहण करने योग्य नहीं है। कोई चाहे कि मैं वाणी से उसकी रट लगाया करूं या आंखों के सामने उसे बसाया करूं या कानों से उसे सुन-सुन धाया करूं या प्राण ले ले कर उसे अपने अन्दर बिठाया करूं या मन से पुनः पुनः विचार कर मन बहलाया करूं वह ऐसा नहीं है। वह कहने सुनने देखने योग्य नहीं, न श्वास के साथ अन्दर ले जाने योग्य है और न ही विचार से पकड़ में आने योग्य है। वाणी, नेत्र, श्रोत्र, प्राण और मन के द्वारा जिसकी उपासना मनुष्य कर पाता है वह ब्रह्म नहीं किन्तु ब्रह्म वह है जो इनकी उपासना से पृथक् है। बहुत कीर्तन भजन से उसकी उपासना नहीं बनती, बहुत देख भाल करने से उसकी उपासना नहीं होती, बहुत गुणगान

सुनने से उसकी उपासना नहीं कहलाती, बहुत प्राणायाम करने से उसकी उपासना नहीं बनती और न बहुत चिन्तन करने से उसकी उपासना होती है किन्तु जब वाणी, नेत्र, श्रोत्र, प्राण और मन की उपासना समाप्त हो जाती हैं तब उसकी उपासना बनती है, बस इन सबकी उपासना बन्द हो जाने पर आत्मा स्वतः ही उसकी उपासना करता है जैसाकि वेद में कहा है "आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश(यजु० ३२।११) वही ब्रह्म है जिसकी इन्द्रियों से नहीं किन्तु आत्मभाव से उपासना करता है ।।८।।

द्वितीय खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।१।।

अन्वयार्थ—(यदि सुवेद-इति मन्यसे) यदि तू 'ब्रह्म को' भली प्रकार जानता हूँ ऐसा मानता है, तो (त्वं नूनं दभ्रम्-एव-अपि) तू निश्चय थोड़ा ही बस (ब्रह्मणः-रुपं वेत्थ) ब्रह्म के रूप को जानता है (अस्य यत्) इसके जिस 'आत्मस्थ' स्वरूप को (त्वम्) तू जानता है (अस्य यत्-देवेषु) इसका जो रूप देवों--अग्नि आदि में 'रखा' जानता है (ते विदितम्) वह तेरा जाना हुआ भी (अथ नु) अभी भी (मीमांस्यम्-एव) विचारने योग्य ही (मन्ये) मानता हूं ।।

प्रवचन—मनुष्य अपने को ब्रह्म का सुवेत्ता कहने या मानने का अभिमान न करे क्योंकि वह ब्रह्म के सम्बन्ध में जितना भी

जानता है थोड़ा ही जानता है। हम देखते हैं संसार में कोई भी वनस्पतिविशेषज्ञ या वस्तुविशेषज्ञ अथवा नक्षत्रविद्याविशेषज्ञ अपने को पूर्णज्ञानी कहने और मानने का साहस नहीं करसकता उसके ज्ञान में पूर्णता नहीं है एक वनस्पति ज्ञात है तो दूसरी अभी अज्ञात है तथा ज्ञात वनस्पति में भी कई अन्य बातें जाननी शेष रही होती हैं जिन्हें वह पुनः पुनः धीरे धीरे जाना करता है। उसी प्रकार अभ्रक, स्वर्ण, हीरा आदि खनिज वस्तुओं के जानने वाले के सम्मुख भी बहुत सी खनिज वस्तुएं जानने को शेष हैं और ज्ञात वस्तु के सम्बन्ध में भी अन्य नई नई जानकारी करता रहता है। नक्षत्रविद्याविशेषज्ञ के सामने भी अनेक नक्षत्र-तारे अनजाने पड़े हैं और जाने हुए के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ और जानना शेष रहता है, समय समय पर उनकी गति विधि में भूल होजाने से पुनः दूसरी कल्पना उनकी जानकारी के लिये करता है जब विश्व की एक छोटी-सी वस्तु के सम्बन्ध में मनुष्य अपने को पूरा ज्ञानी कहने का साहस नहीं करसकता तब उस विश्व के आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में पूरे ज्ञानी होने का अभिमान कैसे करसकता है अन्यत्र उपनिषद् में कहा भी है "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" (श्वेताश्वतरो०) इस लिये जितना भी मनुष्य ब्रह्म को जानता है वह थोड़ा ही जानता है। ब्रह्म की सत्ता का सम्बन्ध जितना मनुष्य के साथ अर्थात् मन इन्द्रिय आदि के साथ है जिसका वर्णन इस उपनिषद् के प्रारम्भ में 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः' प्राणआदि

से दर्शाया है तथा जितना सम्बन्ध अग्नि वायु आदि देवों में है जिसका वर्णन अगले खण्ड में 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' प्रकरण में आने वाला है वह भी विचारनेयोग्य या जानने योग्य है उस में भी बहुत कुछ जानना शेष है और "पादो अस्य विश्वा भूतानि" (यजु० ३१।३) यह सारा विश्व उसके स्वरूप के एक भाग का परिचायक है पुनः उसके सम्बन्ध में पूर्णज्ञानी होने का साहस कैसे किया जासकता है ! इस लिये मनुष्य को ब्रह्मज्ञान के पूर्ण ज्ञान का अभिमान न करके उसके लिये अपनी जिज्ञासा सदा बनाए रखना चाहिये। शरीर के अङ्ग अङ्ग अवयव अवयव की कला और भौतिक पदार्थों की रचना में परमात्मसत्ता का विवेचन और भान बढाते रहना चाहिये ॥१॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२॥

अन्वयार्थ—(अहम) में (सुवेद-इति) भली प्रकार ब्रह्म को जानता हूं ऐसा (न मन्ये) नहीं मानता (नो न वेद-इति) और नहीं जानता ऐसा भी नहीं (च) अपि तु (वेद) जानता हूँ (यः-नः) जो हमारे में (तत्-वेद) उस ब्रह्म को जानता है (नः-तत्-वेद) हमारे उस वचन को जानता है, कि (न वेद इति वेद च) नहीं जानता और जानता हूँ ॥

स्पष्टीकरण—जो ब्रह्म का वेत्ता होता है वह अपने को न-सुवेत्ता माना करता है और न अवेत्ता या सर्वथा अनभिज्ञ

समझा करता है किन्तु अपने को उसका सुवेत्ता या अवेत्ता न मानना या प्रकट करना ही उसका ब्रह्मवेत्तृत्व है। वह इस बात की परवाह नहीं करता कि मैं अपने को जो ब्रह्म का वेत्ता और अवेत्ता कहता हूँ लोग क्या कहेंगे किन्तु वह जानता है कि जो समझदार है उसकी बात को जानता है अतएव अपने विचार में सन्तुष्ट रहता है॥ २॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(यस्य-अमतम्) जिस मनुष्य का मननक्रिया से ऊपर हो चुका ब्रह्म (तस्य मतम्) उसका मननकिया हो चुका—उसने मनन कर लिया जान लिया। और (यस्य मतम्) जिस मनुष्य का ब्रह्म मननक्रिया में आरहा है (सः-न वेद) वह नहीं जानता (विजानताम्--अविज्ञातम्) जो लोग ब्रह्म का अभी विज्ञान कर रहे हैं—निदिध्यासन कर रहे हैं उनका अभी विज्ञात नहीं हुआ पहिचाना नहीं गया (अविजानताम्-विज्ञातम्) जो ब्रह्म के विज्ञान से निरीक्षणक्रिया से ऊपर उठ चुके-निदिध्यासन कर चुके उनका विज्ञात हो गया पहिचान लिया गया ऐसा जानना चाहिये॥

स्पष्टीकरण—ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान या साक्षात्कार के लिये उसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना होता है। श्रवण से से तो ब्रह्म है बस इतना ही संकेत मिलता है पर उसका जब

मनन और निदिध्यासन किया जाता है तभी उसका स्वरूप सामने आता है। श्रवण करने मात्र से तो कोई भी मनुष्य ब्रह्म को जान लिया ऐसा दावा नहीं कर सकता। हां, जिसने उसका मनन किया हो वह कहेगा कि मैंने ब्रह्म का मनन किया पर वह वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता जब तक वह मनन से ऊपर निदिध्यासन की भूमि पर न पहुंच ले। इसी प्रकार जिसने निदिध्यासन किया हो वह कहेगा कि मैंने ब्रह्म का विज्ञान—पहिचान कर लिया पर वह भी ब्रह्म का विज्ञान नहीं कर पाया जब तक कि वह विज्ञान--निदिध्यासन से ऊपर साक्षात्कार की भूमि पर न विराजमान हो ले। यात्री को किसी प्राप्तव्य स्थान का विज्ञान होना तभी कहा जायगा जबकि वह उसे प्राप्त कर लेगा और उस प्राप्तव्य स्थान का मनन भी तभी समझा जायगा जब कि उसकी यात्रा में चल पड़ेगा। इसी प्रकार कृषिकर्म का मनन तभी है जबकि खेत में हल चलाने से लेकर अन्य रक्षा आदि कार्य न करले और कृषिकर्म का विज्ञान या निदिध्यासन तभी सिद्ध होगा जब कि खेत से पके अन्न को हाथों में न पाले। कहीं भूमि में बीज फेंक आने से कृषिकर्म का मनन (समझना) या विज्ञान (निदिध्यासन) नहीं माना जायगा। जिसने अपने हाथों से खेत में हल चलाकर या अन्य रक्षा आदि कार्य किया हो उसीने कृषिकर्म का मनन किया और जिसने पके अन्न को अन्त में पाया उसने ही कृषिकर्म का विज्ञान प्राप्त किया ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(प्रतिबोधविदितं मतम्) प्रतिबोध-निरीक्षण परीक्षण अर्थात् निदिध्यासनद्वारा प्राप्त मत अर्थात ज्ञान (अमृतत्वं हि विन्दते) अमृतत्व को प्राप्त करता है। तब (आत्मना वीर्यं विन्दते) आत्मा--निज प्रयत्न से बल को प्राप्त करता है (विद्यया--अमृतं विन्दते) विद्या से अमृत को प्राप्त करता है।

आशय—मनन और निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मज्ञान मनुष्य के कल्याण का कारण होता है, तभी मनुष्य में आत्मबल आता है. अपनी आत्मशक्ति को समझ पुनः पूर्ण प्रयत्न या आत्मसमर्पण-द्वारा प्राप्त विद्या ब्रह्मविद्या (ब्रह्मात्मश्रवण) से अमृत अर्थात् मोक्ष को पाता है ॥ ४ ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥५॥

अन्वयार्थ—(इह चेत्-अवेदीत्) इस जीवन में यदि ब्रह्म को जान लिया (अथ सत्यम्—अस्ति) तब तो सत्य है-ठीक है (न चेत्) यदि नहीं (इह) इस जीवन में (अवेदीत्) 'ब्रह्म' को जाना (महती विनष्टिः) बड़ी हानि है (धीराः) धीर पुरुष (भूतेषु भूतेषु) भिन्न भिन्न पदार्थों में (विचिन्त्य) निहित ब्रह्म का विवेचन करके (अमृताः--भवन्ति) अमृत होजाते हैं।

प्रवचन—मानव जीवन के प्रादुर्भाव का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है ब्रह्मप्राप्ति, भोगविलास तो समस्त योनियों में मिलता ही है किन्तु अपने अमरत्व या भावी जीवन की इच्छा और अपने सच्चे सहयोगी परमात्मा का सत्सङ्ग करने की उत्सुकता एवं भावना तो मानव योनि में होती है यदि इस जन्म में मनुष्य ने ब्रह्म को जान लिया तब तो मानव जन्म सार्थक हो गया अन्यथा अन्य पशुपक्षियों की भांति भोगों को भोग कर चला गया फिर मानव जन्म का फल क्या रहा ? मानव देह पाकर यदि परमात्मा का सत्सङ्ग न मिला तो वह मनुष्यसंसार में रोटियां खा कर ही चला गया कोई दश बीस वर्ष और कोई पचास सौ वर्ष रोटी खाकर चल बसा सिवाय इस के और क्या फल ? किन्तु जो समझदार मनुष्य होता है वह संसार की वस्तु वस्तु में निहित ब्रह्मशक्ति का मनन निदिध्यासन करता हुआ उसका साक्षात्कार करता है। अपने आत्मा को ऊंचे उठाता है उस अनन्त ब्रह्मदेव का सत्सङ्ग पाकर अमरपद को प्राप्त करता है॥५॥

तृतीय खण्ड

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्म ह देवेभ्यः-विजिग्ये) एक वार ऐसा हुआ कि ब्रह्म अग्नि आदि देवों से जीत गया--जैसा उसने उनसे उपयोग लेना था वैसा ले लिया (ह तस्य ब्रह्मणः-विजये) पुनः उस ब्रह्म के विजय में (देवाः-अमहीयन्त) अग्नि आदि देव

महिमा को प्राप्त हो गये—बड़े उपयोगी और प्रभावकारी सिद्ध होगये (ते-ऐक्षन्त) उन्होंने सोच लिया कि (अयं विजयः-अस्माकम्-एव) यह विजय हमारा ही है और (अयं महिमा-अस्माकम्-एव) यह महिमा हमारी ही है † ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह 'ब्रह्म' (ह) पुनः (एषाम्) इन देवों के अभिप्राय को (विजज्ञौ) जान गया (ह तेभ्यः प्रादुर्बभूव) पुनः उनके लिये प्रकट हुआ (तत्-न व्यजानन्त) वे उस ब्रह्म को नहीं जान सके कि (इदं यक्षं किम्-इति) यह 'यक्ष' महत्-वस्तु—सम्माननीय वस्तु क्या है ? ॥२॥

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि ।
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(ते) वे देव (अग्निम्) अग्नि को (अब्रुवन्) बोले (जातवेदः) हे जातमात्र में विद्यामान अग्नि ! (एतत्) इसे (विजानीहि) जान (एतत्) यह (यक्षम्) महत् वस्तु (किम्-इति) क्या है ? (तथा-इति) अग्नि ने कहा 'तथा-अस्तु' वैसा करता हूँ ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहम-
स्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(तत्-अभ्यद्रवत्) अग्नि उस ब्रह्म के सामने गया

† स्पष्टीकरण देखो चतुर्थ खण्ड के तीसरे मन्त्र के नीचे ।

(तम्) उस अग्नि को (कः-असि-इति) कौन है ? ऐसा (अभ्यवदत्) ब्रह्म बोला (अहम्-अग्निः-वा जातवेदाः-वा-अस्मि) मैं अग्नि हूँ या जातवेदा हूँ ऐसा कहा ॥४॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳसर्वं दहेयं
यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥

अन्वयार्थ—(तस्मिन् त्वयि) उस तुझ में (किं वीर्यम्-इति) क्या बल है ? ऐसा ब्रह्म ने पूछा (अपि-इदं सर्वं दहेयम्) अवश्य इस सब को जलादूं (यत्-इदं पृथिव्याम्-इति) जो यह पृथिवी पर है ॥५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन
तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं
यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(तस्मै तृणं निदधौ) उस अग्नि के लिये तृण रखा और कहा (एतत्-दह-इति) इसे जला (तत्-उपप्रेयाय) अग्नि उस तृण के पास गया (तत् सर्वजवेन दग्धुं न शशाक) उसे अग्नि सारे बल से जला न सका (सः-ततः-एव निववृते) वह तब ही लौट आया 'और देवों को बोला' (एतत्-विज्ञातुं न-अशकम्) इसे मैं न जान सका (यत्-एतत्-यक्षम्-इति) जो यह महत् वस्तु है * ॥ ६ ॥

* स्पष्टीकरण देखो चतुर्थ खण्ड के तीसरे मन्त्र के नीचे ।

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥७॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (वायुम्-अब्रुवन्) वे देव वायु को बोले (वायो ! एतत्-विजानीहि) हे वायु ! इसे जान (एतत्-यक्षं किम्-इति) यह महत् वस्तु क्या है ? (तथा-इति) वायु ने कहा बहुत अच्छा ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वाऽहम-
स्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८॥

अन्वयार्थ—(तदभ्य० सीति) वायु उस ब्रह्म के सामने गया उसे ब्रह्म बोला तू कौन है (वायुः—वा-अहम्-अस्मि-इति-अब्रवीत्) मैं वायु हूं ऐसा वह बोला (मातरिश्वा वा-अहम्-अस्मि-इति) या मातरिश्वा-आकाश में गतिवाला-गति का स्वामी मैं हूं ॥८॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳसर्वमाददीयं
यदिदं पृथिव्यामिति ॥९॥

अन्वयार्थ—(तस्मिन्-त्वयि किं वीर्यम्-इति) उस तुझ में क्या बल है (यत्-इयं पृथिव्याम्-इति) जो यह पृथिवी पर है (अपि) अवश्य (इदं सर्वम्-आददीयम्) इस सबको लेजा सकता हूँ- उड़ा सकता हूं। ॥९॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय
सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते
नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(तस्मै तृणं निदधौ) उस वायु के लिये तृण रखा (एतत्-आदत्स्व-इति) इसे लेजा—उड़ा ले 'ऐसा ब्रह्म ने कहा (तत्-उपप्रेयाय) वायु उस तृण के पास गया (सर्वजवेन तत्-आदातुं न शशाक) सारे बल से भी उसे न ले जा सका—उड़ा सका (सः—ततः—एव निववृते) वह उसी समय 'देवों' के पास लौट आया 'और बोला' (एतत्-विज्ञातुं न-अशकम्) मैं इसे नहीं जान सका (यत्-एतत्-यक्षम्-इति) कि यह महत्वस्तु क्या है? ॥१०॥

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद्
यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥११॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (इन्द्रम्-अब्रुवन्) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा को 'देव' बोले (मघवन्) हे ऐश्वर्यवन्! (एतत्-विजानीहि) इसे जान (किम्-एतत्-यक्षम्-इति) यह महत्-वस्तु क्या है? (तथा-इति) इन्द्र ने कहा अच्छा! (तत्-अभ्यद्रवत्) इन्द्र इस ब्रह्म के सामने गया (तस्मात्-तिरः-दधे) इस जीवात्मा से ब्रह्म छिप गया ॥११॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-
मुमां हैमवतीं ताꣳहोवाच किमेतद्यक्षमिति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सः—तस्मिन्-एव—आकाशे) वह जीवात्मा उस ही आकाश में—प्रदेश में (बहुशोभमानां हैमवतीम् उमां स्त्रियम्-आजगाम) बहुत शोभायमाना हिरण्यमयी दिव्या

समाधिप्रज्ञारूपा स्त्री को प्राप्त हुआ (तां ह-उवाच) उसको वह बोला (किम्-एतत्-यत्तम-इति) यह महत् वस्तु क्या है +?

चतुर्थ खण्ड

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(सा) वह 'दिव्य समाधिप्रज्ञा रूप स्त्री, (ब्रह्म-इति-ह-उवाच) ब्रह्म है ऐसा बोली (ब्रह्मणः-वै-एतद्विजये) ब्रह्म के ही इस विजय में (महीयध्वम्-इति) बस तुम महिमा को प्राप्त हुए (ततः-ह-एव विदाञ्चकार) तब ही उसने जाना कि (ब्रह्म-इति) यह ब्रह्म है ॥१॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥२॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्-वै) तब ही (एते देवाः-यत-अग्निः-इन्द्रः) ये देव अग्नि वायु इन्द्र (ते हि) वे ही (अन्यान् देवान्-अतितराम्-इव) अन्य देवों को अतिक्रमण कर गये-ऊंचे उठ गए (ते हि एनत्-नेदिष्ठं पस्पर्शुः) वे ही इस ब्रह्म को निकटतम स्पर्श कर सके—प्राप्त हो सके (ते हि-एनत्-

+इस अलंकार का स्पष्टीकरण देखो चतुर्थखण्ड के तीसरे मन्त्र के नीचे।

प्रथम:-विदाञ्चकार ब्रह्म-इति) वे ही इसे प्रथम जान सके यह ब्रह्म है ॥२॥

तस्माद्वा इन्द्रो ऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥३॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्-वै) तब ही (इन्द्र:)इन्द्र (अन्यान् देवान् अतितराम्-इव) अन्य देवों को अतिक्रमण कर गया--ऊंचा उठ गया (स:-हि-एनत्-नेदिष्ठं पस्पर्श) वह ही इस ब्रह्म को निकटतम स्पर्श कर सका (स:-हि-एनत्-प्रथम:-विदाञ्चकार ब्रह्म-इति)वह ही इसे प्रथम जान सका कि यह ब्रह्म है ॥३॥

समस्त अलङ्कार का स्पष्टीकरण —

अग्नि आदि देवों का परिणामरूप यह विविध संसार हैं इन देवों के ऊपर आधिपत्य जगदीश देव परब्रह्म परमात्मा का है, उसने जब और जैसा चाहा तब और वैसा परिणाम इनका जगद्रूप में बनादिया इस काम में प्रमुखता परमात्मा की है क्योंकि वह कर्ता है "स्वतन्त्र: कर्ता"(अष्टा०) कर्ता स्वतन्त्र होता है उसके अधीन अन्य पदाथ हुआ करते हैं और फिर वह परमात्मा कर्ता होने के साथ व्यापक भी है तब व्यापक कर्ता का पद उंचा है अतएव अग्नि आदि के जगद्रूप परिणाम में विजय या महत्त्व परमात्मा का ही है परन्तु वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है एकदेशी नहीं है अत: अनात्मज्ञानी या जनसाधारण के सम्मुख विश्व में सब कुछ महत्त्व अग्नि आदि देवों का भासित होता है इसी बात को यहां एक अलङ्कार के

रूप में कहा गया है कि अग्नि आदि देवों ने समझा कि यह महत्त्व हमारा ही है यह विजय हमारी ही है। मानो संसार को बाहिरी या ऊपर की दृष्टि से देखने में अनात्मता या नास्तिकता का भान होता है, उस अनात्मता या नास्तिकता के दूर करने के लिये यहां अलङ्कार एवं गाथारूप में वर्णन है। ऐसी स्थिति में उन अग्नि आदि के अभिप्राय को जान उनके सम्मुख ब्रह्म प्रकट हुआ वे देव उसे न जानसके कि हम से बड़ी वस्तु क्या है ? उन देवों ने अग्नि देव को उसके जानने के लिये उसके समीप भेजा कि तू इसे जान तू प्रकाशवान् पदार्थ है अपने प्रकाश से तू वस्तु के स्वरुप को प्रकट कर देता है चमकादेता है अन्धेरे में पड़ी वस्तु तेरे द्वारा व्यक्त हो जाती है तू इस बड़ी वस्तु को जान सकता है। अग्नि ने भी अपनी प्रशंसा सुन और अपने में यह शक्ति जान कर सहर्ष इस बात को मान कर साभिमान ब्रह्म के समीप गया तो ब्रह्म ने पूछा कि तू कौन है ? उत्तर में कहा कि मैं अग्नि हूं मेरे द्वारा सब पदार्थ जानेजाते हैं अतएव 'जातवेदाः' भी हूँ। ऐसा कहने पर ब्रह्म ने पूछा तेरे में क्या बल है ? अग्नि ने उत्तर में कहा कि पृथिवी के सब पदार्थों को भस्म कर सकता हूँ, तब ब्रह्म ने एक तृण मात्र उसके सामने रख कर भस्म करने को कहा अग्नि ने अपना समस्त बल लगाया पर न जला सका तब वह देवों के पास लौट आया अपने को ब्रह्म के जानने में असमर्थ बताया पुनः देवों ने वायु को कहा

कि भाई तू बड़ा वेगवान् है तेरी गति बहुत है तू दूर से दूर वस्तु के पास जा सकता है दूर से दूर वस्तु को पकड़ सकता है इस बड़ी वस्तु के निकट तू जा इसे रोक ले और समझ ले कि यह क्या वस्तु है ? । वायु भी अपने वेगरूप बल के अभिमान में फूल गया और साहङ्कार ब्रह्म के पास गया, उसे भी ब्रह्म ने पूछा तू कौन है ? वायु ने उत्तर दिया मैं वायु हूं आकाश में मेरी गति सर्वत्र है मैं ही गति का कारण हूं अतएव मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं। तब ब्रह्म ने पूछा तेरे में क्या बल है वायु ने कहा पृथिवी की सारी वस्तुओं को मैं उड़ा सकता हूं । ब्रह्म ने एक तृण सामने रख कर कहा इसे उड़ा, वायु सारे बल से भी उसे न उड़ा सका पुनः वह भी देवों के पास लौट आया अपने को असमर्थ बताया । अस्तु। इस इतने कथन में यह आया कि संसार में दो शक्तियां हैं एक प्रकाश और दूसरी गति, इन दोनों शक्तियों से वस्तु के निकट जा सकते हैं उसे पा सकते हैं। किन्तु परमात्मा के निकट जाने और उसे पाने में ये दोनों शक्तियां तुच्छ हैं, तथा अग्नि में जलाने और वायु में उड़ाने का क्रियारूप बल है अग्नि भी सर्वत्र व्यापक है और वायु भी सर्वत्र व्यापक है परन्तु अग्नि विना व्यक्तरूप में आए तृण भी नहीं जला सकता और वायु भी विना व्यक्तावस्था में आए तृण भी नहीं हिला सकता उड़ा सकता । यह सब जानते हैं कि जब कोई मनुष्य चकमक पत्थर और लोहे को या आजकल के अन्य साधन को रगड़ता

है तो अग्नि व्यक्तरूप में आती है और तभी जलाने का काम करने लगती है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य पंखा चलाता है तो वायु व्यक्तावस्था में आ जाता है और तभी वस्तुओं को उड़ाने लगता है, अग्नि में जलाने की और वायु में उड़ाने की क्रिया या शक्ति है ये दोनों सर्वत्र व्यापक भी हैं पर विना मनुष्य के रगड़े या विना पंखा चलाए अग्नि तृण को भी न जला सका और वायु भी तृण को न हिला सका जब तक कि वे व्यक्तरूप में न आसकें। इस दृष्टान्त के अनुसार संसार में अग्नि में जलाने और वायु में उड़ाने की क्रियाशक्ति सर्वत्र व्यापक चेतन देव की ओर से प्रेरणा पाकर ही आती है यह समझना चाहिये। वह विश्वात्मा ब्रह्म यदि अपनी प्रेरणा इनमें न दे तो अग्नि में जलाने आयु में उड़ाने की शक्ति इतनी भ नहीं मिले कि तृण मात्र को जला सके या उड़ा सके। अतः उस ब्रह्म की ही महिमा संसार में है जो देवों की महिमा भासित होती है। पुनः देवों ने जो इन्द्र अर्थात् जीवात्मा को उस ब्रह्म के जानने के लिये भेजा था, जीवात्मा ब्रह्म की ओर गया तो वह ब्रह्म उस से छिप गया था। अग्नि से ब्रह्म न छिपा और न वायु से छिपा फिर इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से क्यों छिपा। अग्नि और वायु जड हैं ज्ञानहीन हैं इनसे छिपने की आवश्यकता नहीं थी किन्तु इन्द्र अर्थात् जीवात्मा चेतन है ज्ञानवान् है वह ब्रह्म को जान लेता इस लिये छिप गया—जीवात्मा की साधारणज्ञान दृष्टि से परे हो गया जीवात्मा में भी गर्व

आया था कि संसार में कला-कौशल ज्ञान-विज्ञान का विस्तार करने वाला मैं हूँ परन्तु ब्रह्म के जानने में वह भी असमर्थ रहा अन्य वस्तु उसके मानवीय बुद्धि के सामने नाचती है उसका ज्ञान यथेष्ट कर लेता है परन्तु ब्रह्म के जानने में उसे साधारण स्थिति से ऊपर उठना पड़ा उसे दिव्या समाधि प्रज्ञा की शरण लेनी पड़ी तभी ब्रह्म को जानसका। अस्तु। इन समस्त देवों में प्रथम स्थान ब्रह्मज्ञान में इन्द्र अर्थात् जीवात्मा का है वह चेतन है ज्ञानवान् है, पुनः अन्य देवों में अग्नि और वायु का स्थान जानने में बतलाया सो भी इन्द्र अर्थात् जीवात्मा के द्वारा अन्य देवों की अपेक्षा जब अग्नि और वायु का निरीक्षण मनुष्य भली प्रकार करता है तो उसे ब्रह्म का बोध होता है। अग्नि से तात्पर्य समस्त अग्निपरिवार से है पृथिवी की अग्नि, सूर्य और विद्युत् भी। इस प्रकार के निरीक्षण परीक्षण सूर्य की रचना उसका आकाश में नियन्त्रण और अन्य गोलों का विचार करने से ब्रह्म का बोध होता है। तथा संसार में गति के आधार वायु का निरीक्षण स्थूल वायु और सूक्ष्म वातसूत्रों जिनके आधार पर पृथिवी आदि गोले अपनी अपनी कक्षा या परिधि बनाकर आकाश में घूमते हैं उनका निरीक्षण करने से उनकी रचना और विस्तार पर ध्यान देने से ब्रह्मसत्ता का बोध होता है, अतएव ये दोनों अग्नि और अन्य जड़ देवों में ब्रह्मबोध में अधिक निकट हैं॥३॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस ब्रह्म का (एषः-आदेशः) यह आदेश है—सङ्केत है (यत्--एतत्) जो यह (विद्युतः) विद्युत् का (व्यद्युतत्--आ--इति) झटिति चमक जना। और पुनः (न्यमीमिषत्–आ) तुरन्त छिप जाना है (इति–अधिदैवतम्) यह आधिदैविक जगत् में उस ब्रह्म का बोधसाधन है।

स्पष्टीकरण—मेघों में निहित कोई देव है जो अपनी व्यापक शक्ति से उन्हें परस्पर घर्षित कर विद्युत्--रूप अग्नि को पुनः पुनः चमकाता है, वह है ब्रह्म। इस प्रकार विद्युत् का चमकना फिर छिपजाना, फिर चमकना और फिर छिप जाना अर्थात् विद्युत का पुनः पुनः चमकना रूप व्यवहार उस घर्षणकर्ता व्यापक ब्रह्म का आदेश है—द्योतक सङ्केत है ॥४॥

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब (अध्यात्मम्) आध्यात्मिक जगत् अर्थात् शरीर में (यत्--एतत्) जो यह (गच्छति--इव च मनः) चलता हुआ सा मन है (अनेन च) और इस से (सङ्कल्पः) संकल्पकर्ता जीवात्मा (एतत्–अभीक्ष्णम्–उपस्मरति) पुनः पुनः उपस्मरण करता है ॥५॥

स्पष्टीकरण—आधिदैविक जगत् में जैसे विद्युत है एवं आध्यात्मिक जगत अर्थात् शरीर में मन विद्युत् का प्रतिनिधि

है। मन का पुनः पुनः मननीय विषय की ओर जाना आना या उसका उदय और तिरोभाव होना विद्युत् जैसा व्यवहार भी उसके प्रेरक ब्रह्म का द्योतक संकेत है जैसा कि इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कहा है 'केनेषितं पति प्रेषितं मनः' किस देव की प्रेरणा से यह मन अपने अभीष्ट विषय की ओर जाता है ॥५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य
एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

अन्वयार्थ—(तत्--ह तद्वनं नाम) वह ब्रह्म हां 'तद्वन' अर्थात् उन देवों का वननीय सम्भजनीय संयोजनीय आश्रयणीय है, उस ब्रह्म के विना वे देव क्षण भर भी अपनी सत्ता नहीं रख सकते जैसा अलङ्कार में आया है (तद्वनम्-इति-उपासितव्यम्) उसे 'तद्वन' उन देवों में ओत प्रोत विभु और उनका नियन्ता मानते हुए उपासना करनी चाहिये (सः--यः--एतत्--एवं वेद) वह जो इसे ऐसा जानता है (एवं सर्वाणि भूतानि—अभि-संवाञ्छन्ति) इसे सारे प्राणी चाहते हैं ॥६॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(भो उपनिषदं ब्रूही-इति) भगवन्! उपनिषद्-ब्रह्मविद्या का प्रवचन करो ऐसा कहा था (ते-उपनिषद्-उक्ता) तेरे लिये उपनिषद्—ब्रह्मविद्या कथन करदी (वाव) सचमुच (ते) तेरे लिये (ब्राह्मीम्—उपनिषदम्) ब्रह्मसम्बन्धी उपनिषद्

(अब्रूम-इति) हमने कथन करदी ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि । सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(तस्यै) उस ब्रह्मविद्या के (तपः-दमः कर्म-इति प्रतिष्ठा) तप, दमन, कर्म ये प्रतिष्ठा अर्थात् नीचे का भाग पैर, जंघामध्य, कटि हैं (वेदाः सर्वाङ्गानि) वेद सब अवयव हाथ, भुजा, मुख, शिर हैं (सत्यम्-आयतनम्) सत्य अर्थात् सत्याचरण आयतन है धड़ है ॥

स्पष्टीकरण—इस वचन में ब्रह्मविद्यारूप काया के भाग कौन-कौन हैं यह दिखलाया है, यहां इस काया के तीन भाग दर्शाए हैं, एक नीचे का दूसरा ऊपर का और तीसरा मध्य का जिस से दोनों ऊपर नीचे के भाग जुड़े हैं। वे भाग नीचे तालिका के अनुसार हैं—

१—नीचे के अङ्गों के लिये तप, दम (दमन), कर्म कहे हैं जो क्रमशः पाद (पैर) जङ्घामध्य (गुप्ताङ्ग) कटि (कूल्हा) के स्थान में हैं तप की पाद से तुलना है, कहा भी है 'तपः पुनातु पादयोः'। दम (दमन) जंघामध्य (गुप्ताङ्ग) के स्थान में हैं, दमन = इन्द्रिय-दमन प्रसिद्ध है सो दमनार्थ सर्वमुख्य इन्द्रिय है गुप्तांग। कर्म कटि के स्थान में हैं सो कर्म करने पर उद्यत हो जाने को कटिबद्ध हो जाना कहा भी जाता है। इस प्रकार इस ब्रह्मविद्या की स्थिरता के आधार अङ्ग हैं तप तपस्या द्वन्द्वसहन (भूखप्यास, हानिलाभ, सुखदुःख, हर्षशोक, शीतोष्ण आदि का सहन करना) दम-दमन-इन्द्रियदमन-ब्रह्मचर्य का पालन, कर्म-प्रयत्न-निरन्तर अभ्यास हैं। इनके सेवन होने पर ब्रह्मविद्या स्थान लेती है पांव जमाती है। जिस मनुष्य के जीवन में इनका आचरण नहीं है वह ब्रह्मविद्या के मार्ग पर पैर नहीं रख सकता।

२—ऊपर के अंग हैं वेद अर्थात् ऋक् यजुः साम और अथर्व नाम से चारों वेद, ये सब अंगों ऊपर के अंगों अर्थात्-शिर, मुख, भुजा और हाथ के स्थान में हैं। विचार, स्तुति, ध्यान और साक्षात्कार चारों वेदों का सार है ऋक् का विचार, यजुः का स्तुति, साम का ध्यान और अथर्व का साक्षात्कार है सो ये ब्रह्मविद्या के क्रमशः शिर, मुख, भुजा और हाथ हैं। जिस मनुष्य ने इसका सम्पादन कर लिया उस मनुष्य ने ब्रह्मविद्या के उत्तमांगों को साध लिया।

३—मध्य भाग के लिये सत्य (सत्याचरण) आया है,

सत्याचरण ब्रह्मविद्यारूप शरीरमूर्ति का धड़ है इसी से पूर्व कहे हुए नीचे ऊपर के अङ्ग जुड़े हैं इसी के सहारे हैं, इसलिये सत्याचरण के साथ ऊपर नीचे के अंगों का बनाए रखना जीवन को ब्रह्मविद्या में ढालना है, जिस मनुष्य में सत्याचरण का स्वभाव नहीं वह उक्त ब्रह्मविद्या के ऊपर नीचे के अङ्गों को धारण नहीं कर सकता सफलता उसी को ब्रह्मविद्या के धारण में होगी जो सत्याचरण परायण रहेगा ॥८॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे
लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥

अन्वयार्थ—(यः-वै) जो ही (एताम्-एवं वेद) इस ब्रह्मविद्या को इस प्रकार जानता है वह (पाप्मानम्-अपहत्य) पाप दोष को अलग करके (अनन्ते ज्येये स्वर्गे लोके) अनन्त महान् स्वर्ग अर्थात सुखमय स्थान में ब्रह्म में या मोक्ष में (प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है—विराजता है ॥९॥

केनोपनिषद् समाप्त

इति २।१०।१९४६ ई० स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

कठोपनिषद्-दीपिका—

उत्थानिका

इस उपनिषद् में नचिकेता और यम के संवाद द्वारा अध्यात्म-विद्या या ब्रह्मविद्या का निरूपण किया गया है। नचिकेता शिष्य है, और यम आचार्य है तथा वह ऐतिहासिक व्यक्ति है ऐसा प्रायः विद्वानों का मत है, परन्तु हमारा विचार इस से सर्वथा भिन्न है उपनिषद् में कहीं भी नचिकेता को शिष्य और यम को आचार्य करके नहीं लिखा। हम इन्हें मानव व्यक्तियां नहीं मानते किन्तु नचिकेता जीवात्मा और यम मृत्यु है इन दोनों का संवाद एक अलङ्कार के रूप में अध्यात्मविद्या के प्ररोचनार्थ है। यह आलङ्कारिक संवाद नचिकेता (जीवात्मा) और यम (मृत्यु) के मध्य आज का ही नहीं किन्तु सदा से चला आता है इसी उपनिषद् में कहा भी है "नाचिकेतमुपाख्यानं सनातनम्" (कठो० १।३।१६) अर्थात् नचिकेता (जीवात्मा) विषयक अलङ्कार सनातन है। यम कोई मानव व्यक्ति नहीं यहा देहविनाशक मृत्यु है, इस में इसी उपनिषद् की अन्तः साक्षी भी है ! उपनिषद् में यम को मृत्यु वैवस्वत अन्तक आदि मृत्यु के पर्याय शब्दों से कहा है, तथा "मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्" (कठो० १। १। ११) मृत्यु के मुख से छूटा हुआ कथन मानव व्यक्ति के सम्बन्ध में नहीं किन्तु उसी मारक मृत्यु के लिये होसकता

है, आगे चलकर "अयं लोक नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" (कठो० १। २। ६) यह लोक है पर लोक नहीं है ऐसा मानने वाला वारम्बार मेरे वश में आता है। इस कथन में भी मारक मृत्यु है मानव व्यक्ति नहीं यह सुतरां सिद्ध हुआ यह तो हुई स्वयं शास्त्र की साक्षी, ऋषि दयानन्द की साक्षी भी हमारे इस विचार में है, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कठोपनिषद् के कुछ वचनों को देकर लिखा है कि नचिकेता यहां जीवात्मा का अलङ्कार है।

यह उपनिषद् यजुर्वेदीय है यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतश्चं स्मर ॥

मन्त्र का व्याख्यान इस उपनिषद् में है या इस उपनिषद् का मूल उक्त मन्त्र है। इस मन्त्र का अर्थ और कुछ स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

अर्थ—(वायुः) बाह्य वायु (अनिलम्) आन्तरिक वायु अर्थात् प्राणशक्ति को धारण करता है, और वह (अमृतम्) मरणधर्मरहित अमर जीवात्मा को धारण करता है (अथ) अनन्तर—ऐसा सङ्गठन न रहने पर—किसी एक के भी अभाव हो जाने पर (शरीरं भस्मान्तम्) शरीर भस्मान्त—भस्म नाश हो जाना है अन्त में जिस का अर्थात् नश्वर है, अतः (क्रतो) हे क्रियाशील एवं प्रज्ञानवान् जीव ! तू (ओं स्मर) ओ३म् का

स्मरण कर (क्लिबे स्मर) अपने सामर्थ्य के लिये स्मरण कर (कृतं स्मर) कर्म का स्मरण कर अर्थात् कर्त्तव्य का स्मरण कर।

इस मन्त्र में शरीर के जीवनाधार पदार्थ शरीर और जीव के स्मर्तव्यों का वर्णन है जिस में—

वायु+अनिल+अमृत=नचिकेता के प्रथम वर का आधार
अनिल+अमृत= ,, ,, दूसरे वर का आधार
अमृत= ,, ,, तीसरे वर का आधार
कृतं स्मर= ,, ,, प्रथम वर का उद्देश्य
क्लिबे स्मर= ,, ,, दूसरे वर का उद्देश्य
ओ३म् स्मर= ,, ,, तीसरे वर का उद्देश्य

इतना ही नहीं यह मन्त्र जीवनविज्ञानविषयक है, इस में तीन शरीरों और चार अवस्थाओं का भी वर्णन है यथा—

वायु+अनिल+अमृत=स्थूल शरीर, जागरितावस्था
वायु+अमृत=सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था
अनिल+अमृत=कारण शरीर, सुषुप्तावस्था
अमृत= ० तुरीयावस्था

कठोपनिषद् में आए नचिकेता और यम के जीवात्मा और मृत्यु होने में यह एक वैदिक साक्षी समझना चाहिये। यद्यपि नचिकेता और यम मानव व्यक्तियां नहीं हैं किन्तु जीवात्मा और मृत्यु हैं तथापि इनके आलङ्कारिक वर्णन में हम यह कह सकते हैं कि नचिकेता (जीवात्मा) यम (मृत्यु) का शिष्य है मृत्यु अर्थात् मृत्युघटना से मनुष्य शिक्षाएं ग्रहण करते हैं। महात्मा बुध

मृत्यु से शिक्षा ग्रहण करके वैराग्य को प्राप्त हुए, ऋषि दयानन्द बहिन और चाचा की मृत्यु को देख घर छोड़ चले, पं० गुरुदत्त ने भी दयानन्द के मृत्यु से आस्तिकता की शिक्षा ली। संसार में अनेक अत्याचारी पापी जन भी मृत्यु को देख कर धर्म में प्रवृत्त हो गए। जब मनुष्य किसी बड़े सम्राट् या प्रसिद्ध विद्वान् या प्रख्यात योद्धा एवं बड़े बलवान का मृत्यु समाचार सुनता है तो तुरन्त उस में वैराग्य और धार्मिकता की तरङ्गें स्फुरित हो जाती हैं तथा जब एक साथ अनेक मृत्युघटनायें सुनता है तब भी वह अपने अन्दर शिक्षा धारण करता है मानो नचिकेता मृत्यु से शिक्षा ले रहा है। यह बात केवल मनुष्यों तक ही नहीं रहती किन्तु पशु और पक्षी भी मृत्यु से शिक्षा ग्रहण करते हैं सरकसों में देखा जाता है कि एक पात्र में सिंह घोड़ा गौ और बकरी जल पीते हैं सिंह जैसा हिंसक प्राणी भी इतना धार्मिक बन गया कि किसी पर आक्रमण करने का साहस नहीं करता, क्यों? सरकस मास्टर बन्दूक तलवार या विद्युत का हण्टर आदि साधन लिये हुवे मृत्यु के दर्शन करा रहा है। अत एव जीवात्मा स्वभावतः मृत्यु से शिक्षा लेता है वेद में कहा भी है **"मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि"**(अथर्व० ६।१३३।३) मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूं। अस्तु! अब भाष्य देखें।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

कठोपनिषद्-दीपिका

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

अन्वयार्थ—(वाजश्रवसः) जीवनशक्तिरूप प्राण[1] ने (ह वै) हां, एक वार (उशन्) छुटकारा चाहते हुए (सर्ववेदसं ददौ) सर्ववेदस--सब धन रूप[2] नेत्रादि इन्द्रियां जिसमें दी जाती हैं ऐसे देहान्तरूप त्याग याग का अनुष्ठान-किया (ह) उस अवसर पर (तस्य) उसका (नचिकेताः-नाम) नचिकेता—जीवात्मा[3] (पुत्रः-आस) पुत्र था।

---

[1] "वाजोऽन्ननाम" (निघं० २।७) "श्रवो धननाम" (निघं० २।१०) अन्न ही धन जिसका है तथा अन्न—अन्नमय कोश—त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त मांसपिण्ड धन जिसका है वह प्राण है।

[2] "वेदस् धननाम" (निघं० २।१०)

[3] "चिकेततिर्गतिकर्मा" (निघं०) से नञ्पूर्वक छान्दस असुन् प्रत्ययान्त प्रयोग नचिकेताः है जिसका अर्थ है शरीर में अविचल अपरिणामी अमर जीवात्मा।

आशय—शरीर का स्वामी जीवनशक्तिरूप प्राण क्षीण होकर शरीर से निकलता है नासिका जिह्वा नेत्र आदि सम्पत्ति को त्यागता है उस ऐसे समय त्यागप्रसङ्ग में उसका पुत्ररूप जीवात्मा भी वर्तमान है।

विशेष—जीवात्मा पुत्र है और प्राण पिता है, पिता से पुत्र की अभिव्यक्ति या प्रकटता होती है—प्राण से जीवात्मा की अभिव्यक्ति प्रकटता या प्रतीति समझी जाती है, मरते समय भी प्राण से प्रतीति होती है कि जीव अभी है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को जीवात्मा का पिता कहा भी है वहां इन्द्रियां और प्राण का विवाद है। प्राण निकलने लगा तो इन्द्रियां कहती हैं मत निकल तू जीवात्मा का पिता है "पिता त्वं मातरिश्वनः" (प्रश्नो० २।११) मातरिश्वा—माता के गर्भ में जाने वाले जीवात्मा का तू पिता है। 'मातरिश्वा' का अर्थ जीवात्मा स्वामी दयानन्द ने भी (यजु० ४०।४) में किया है। वेद में भी प्राण को पिता कहा है। "प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।"

(अथर्व ११।४।१०)

तꣳ ह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत—
पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥२-३॥

अन्वयार्थ—(ह) हां (तं कुमारं सन्तम्) कुमार के समान सत्यप्रिय तथा 'कुमारम्—कुत्सितमारम्—जिसका मरना अस-

म्भव है ऐसे उस अमर नचिकेता अर्थात् जीवात्मा में (नीयमानासु दक्षिणासु) नीयमान—प्रणीयमान—दीयमान—दीजाती हुई इन्द्रियत्यागरूप दक्षिणाओं के समय (श्रद्धा-आविवेश) श्रद्धा श्रत्+धा—सत्यधारणा सत्यभावना आविष्ट हुई (सः-अमन्यत) उसने उस श्रद्धा--सत्यभावना को इस प्रकार अनुभव किया कि—

(पीतोदकाः-जग्धतृणाः-दुग्धदोहाः-निरिन्द्रियाः) ऐसी गौएं अर्थात् इन्द्रियां जिन्होंने संसार से जो रसपान करना था कर लिया अन्य रसपान करने की शक्ति से हीन होचुकीं, भोग विलासों को भोग भोग क्षीण होचुकीं, दूसरों ने जो उनसे सार खींचना था खींच लिया, सन्तानोत्पादनशक्ति से हीन हुई हुई (ताः) उन्हें (ददत्) देता हुआ अग्नि आदि देवताओं के प्रति समर्पित करता हुआ--तत्तत्कारण में लीन करता हुआ (अनन्दाः-नाम ते लोकाः) नन्दरहित—दुःख भरे जो लोक--जन्म हैं (तान्) उनको (सः) वह (गच्छति) जाता है--प्राप्त करता है।

आशय—जब जीवनशक्तिरूप प्राण देह से निकलने लगता है नेत्र आदि को त्यागता है तो उस समय जीवात्मा के अन्दर एक पश्चात्तापरूप भावना उदय होती है कि अहो हो! मेरा यह जीवनीय प्राणपखेरू संसार के भोग विलासों में अपनी इन्द्रियों को लोलुप बना जीर्णशीर्ण कर संयमहीन अजितेन्द्रिय होकर संसार से जारहा है निःसन्देह दुःख भरे जन्मों को प्राप्त होगा + ॥४॥ (+पृष्ठ १०६ पर देखिये)

स होवाच पितरं तत (:) कस्मै मा दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

अन्वयार्थ—(सः) वह नचिकेता अर्थात् जीवात्मा (ह ततः) हां फिर (पितरम्) जीवनशक्तिप्राणरूप पिता को (उवाच)

+ मरणकाल में यह 'श्रद्धा' अर्थात् पश्चात्तापरूप सत्यभावना प्राण के निकलते समय प्रत्येक संसारी जीव के भीतर दुःखमय रूप में उत्पन्न होती है, इस समय का नाम "प्रयतः श्रद्धाकालः—मरते हुए की श्रद्धाका काल कहा जाता है उस काल में इस नचिकेता और मृत्यु के अलङ्कार को सुनाना इसी उपनिषद् में लाभदायक बतलाया है "श्रावयेत...प्रयतः श्राद्धकाले वा" (कठो० १।३।१७) 'अथवा मरते हुए के श्राद्धकाल में सुनावे' जैसे 'प्र' पूर्वक 'इण्' धातु से 'प्रेत्य' (मरकर) 'प्रेत' (मर चुका) शब्द बनते हैं इसी प्रकार 'प्र' पूर्वक 'इण्' धातु से शतृप्रत्ययान्त 'प्रयत्' का षष्ठी विभक्ति में 'प्रयतः' है जिसका अर्थ है मरते हुवे के । अन्यत्र उपनिषद् में इस अर्थ में यह प्रयोग आया भी है "स इतः प्रयन्नेव जायते" अर्थात् वह यहां से मरते ही जन्म लेता है । मरते हुए के समय में वैराग्यपरक उपदेश से तद्भावभावित होकर मरने वाले का आत्मा सुसंस्कृत हो जाता है, वास्तव में अन्त्येष्टि संस्कार का प्रारम्भ यहीं से है कारण कि ऐसे समय में उसे पुत्रकलत्र धनधान्य आदि वस्तुओं से वैराग्य दिलाना परमात्मा की ओर लगाना अत्यन्त हितकर है योगदर्शन में कहा है कि यदि कोई अध्यात्म का उपदेश सुनकर आंखों में आंसू ले आवे तो बस उसके कल्याण के दिन निकट आगए । फिर जबकि स्वतः भी पश्चात्तापरूप से सत्य-भावना मरते हुए के अन्दर हो ही रही है उस समय वैराग्य को उपजाने बढ़ाने के लिये इस उपनिषद् के वैराग्यपरक वर्णन को सुनाना अत्यन्त

बोला कि (मां कस्मै दास्यसि-इति) तू सब कुछ दान करता है तब मुझे किस को देगा ? (द्वितीयं तृतीयं ह-उवाच) प्रथम

हितकर होगा । परन्तु लोग इसके विपरीत पुत्र स्त्री आदि को पुनः पुनः सामने लाकर उनकी बातें सुना सुनाकर मोहजाल बिछाकर रोने पीटने द्वारा उसे घबरा कर उसकी अन्त्येष्टि को बिगाड़ते हैं और बहुधा मरते हुए को आराम के बिस्तरे से खींचकर नीचे पटक देते हैं उसे अधिक अशान्त करते हैं । अस्तु । उपनिषद् के "श्रावयेत्...प्रयतः श्राद्धकाले वा" इस वचन से एक तो यह बात स्पष्ट हुई कि औपनिषद काल में मरते हुए को वैराग्य दिलाने भावी जन्मार्थ सुसंस्कारों के उपजाने के लिये यम का आलङ्कारिक वृत्तान्त सुनाते थे, दूसरी बात श्राद्ध का मरने वाले के साथ क्या वास्तविक सम्बन्ध है ? मरते हुए के पश्चात्तापरूप सत्यभावना के समय को श्राद्धकाल कहा जाता था आधुनिक श्राद्ध का प्रारम्भिक रूप कठोपनिषद् का उक्त श्राद्धकाल शब्द है जिसको केवल मरते हुए को वैराग्य दिलाने के लिये इस यम के अलङ्कार को सुनाया जाता था । यह तो उपनिषत्काल की बात है अब इसके आगे सूत्रकाल आता है उस समय मरचुकने पर मृतक को श्मशान ले जाते हुए उक्त यम के अलङ्काररूप यमगाथा द्वारा पुत्र स्त्री आदि को भी वैराग्य दिलाने की प्रथा चली "यम गाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके" (पारस्कर गृह्यसूत्र ।३।१०।६) अर्थात् यमगाथा-यम के अलङ्कार को गाते हुए और यमसूक्त को जपते हुए मृतक को श्मशान ले जाओ' पञ्जाब के कई प्रान्तों में इस प्रथा का अनुकरण अभी मिलता है मृतक को श्मशान ले जाते हुए वैराग्यपरक किन्हीं वचनों का गान करते हैं, संयुक्त प्रान्त आदि में बहुत थोड़े शब्दों से वैराग्य दिलाने को "राम राम सत् है" यह कहते जाते हैं । अस्तु ! गृह्यसूत्रकालमें मृतक को श्मशान लेजाते हुए पुत्र दारा आदि को वैराग्य दिलाने के लिये यमगाथा और यमसूक्त को गाने जपने की प्रथा चली पश्चात्

बार कहने पर उत्तर न मिला तो फिर दूसरी बार कहा तब भी उत्तर न मिला पुनः तीसरी बार कहा 'तो उत्तर मिला, (मृत्यवे त्वा ददामि-इति) मृत्यु के लिये तुझे देता हूँ।

मृतक के मृत्यु समाचार सुनकर बाहिर से अन्य दूरस्थ सम्बन्धियों के आने पर उन्हें वैराग्य दिलाने के लिये पौराणिक काल में दश ग्यारह दिन तक यमपुराण आदि की कथा सुनाने की प्रथा चली पुनः परिपक्व पौराणिक काल में वर्ष में मृतक की मरणतिथि आने पर तथा आश्विन मास में कुछ खिलाने पिलाने की प्रथा श्राद्ध नाम से चल पड़ी। कहां यह उपनिषदों का मरणासन्नकाल श्राद्धकाल और श्राद्ध कहां अब मृतक के वर्षों पीछे भी उन के निमित्त कुछ खिलाने के लिये श्राद्ध शब्द का पौराणिक काल में रूढ़ होजाना। वास्तव में श्राद्ध शब्द का अर्थ श्रद्धा से हुए व्यवहार का नाम है और श्रद्धा के अर्थ हैं—

१—सत्यधारणा(सत्यसङ्कल्प)'श्रत्सत्यनाम'(निघण्टु)
२—आस्था, निष्ठा, विश्वास
३—भीतरी इच्छा "कयोमनसी श्रद्धाप्रतिघाते" (अष्टा० १।४।६६) मनोहत्य दुग्धं पीतम्—इच्छानुसार या इच्छा का अतिक्रमण कर दूध पीया।
४—आत्मा की निजशक्ति "श्रद्धा पदनाम" (निघण्टु)

श्रद्धा अर्थात् धार्मिक आस्था या भीतरी इच्छा से भोजनदान-ब्रह्मभोज को भी श्राद्ध कह सकते हैं रामायण में राम के विवाह के उपलक्ष्य में दशरथ द्वारा किए गए ब्रह्मभोज को श्राद्ध शब्द से कहा गया है—

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामः स्वमालयम्।
श्राद्धकर्माणि विधिवद्विधास्ये इति चाब्रवीत् ॥

स्पष्टीकरण—जीवनशक्ति प्राण अपनी समस्त वस्तुओं को त्याग रहा तब त्यागप्रसङ्ग में जीवात्मा का भी त्याग किसी के लिये होना है अतः अलङ्कार में जीवात्मा की ओर से प्रश्न है कि हे जीवनीय प्राण मुझे किस के लिये दोगे ? परन्तु प्राण के सामने एक समस्या रही कि नेत्र आदि तो सूर्य आदि देवताओं के प्रति दिए "सूर्यं चक्षुर्गच्छतु" (ऋ० १० । १६ । ३) इत्यादि वचनानुसार नेत्र सूर्य या अग्नि को नासिका पृथिवी देवता को जिह्वा जल को त्वचा वायु को श्रोत्र आकाश को दिए जासकेंगे, जिस जिस से ये बने हैं उस उस कारण में लीन किए जासकेंगे परन्तु जीवात्मा किस देवता का भाग है यह न समझ में आया अतः प्रथम बार पूछने पर उत्तर न

स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः ।
प्रभाते काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम्
(वाल्मीकि रा० बालका० सर्ग ७२।१६।२०)

राम का स्वयम्वर हो चुकने पर महाराजा दशरथ जनकसे कहते हैं आप स्वस्ति–कल्याण को प्राप्त हों अब हम अपने घर जावेंगे श्राद्ध कर्मों को विधिवत् करेंगे ऐसा बोले। महाराजा दशरथ ने अपने घर अयोध्या जाकर विधान के अनुसार श्राद्ध करके प्रातः शीघ्र ही उठकर उत्तम गोदान किया।

उक्त वचन से महाराजा दशरथ द्वारा राम के स्वयम्वर विवाह से निवृत्त हो जनकपुरी से अयोध्या पहुंचते ही 'सायं' ब्रह्मभोज रूप श्राद्ध किया फिर प्रातः उठते ही गोदान भी किया ऐसा स्पष्ट है।

सूझा दूसरी बार पूछने पर भी न सूझा पुनः तीसरी बार पूछने पर कह डाला कि चल तुझे मृत्यु के प्रति देता हूँ 'जीवात्मा कोई मृत्यु से बनी हुई वस्तु नहीं है तथापि लोकव्यवहार में यह प्रसिद्धि है कि अमुक मृत्यु को प्राप्त होगया या मृत्यु का ग्रास बनगया अतः मृत्यु के लिये देने को यहां कहा गया है' ॥४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किं ७ँ स्विद् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥

अन्वयार्थ—(बहूनां प्रथमः-एमि) 'नचिकेता अर्थात् जीवात्मा सोचने लगा कि इस जीवनीय प्राण ने क्या सोचकर मुझे मृत्यु के प्रति देने की ठानी क्योंकि जितनी वस्तुएं इस प्राण के साथ सम्बन्ध रखती हैं उन' बहुतेरी वस्तुओं में तो मैं प्रथम हूँ मुख्य हूं और (बहूनां मध्यमः-एमि) बहुतेरी वस्तुओं में मध्यम हूँ+ निकृष्ट नहीं हूँ 'पुनः मृत्यु के प्रति यह मुझे क्यों देरहा है निकृष्ट वस्तु को ही कोई मृत्यु—विनाश के लिये दिया करता है' (यमस्य किं स्वित् कर्तव्यम्) मृत्यु का कर्तव्य क्या है (यत्-अद्य मया करिष्यति) जो आज मेरे द्वारा करेगा ?

जीवात्मा को ये दो चिन्ताएं लगीं कि इस जीवनीय प्राण ने मुझे मृत्यु के प्रति सौंप देना क्यों सोचा ? मैं इस का निकृष्ट सम्बन्धी नहीं उत्कृष्ट हूँ या मध्यम हूँ पुनः यह मुझे मृत्यु के लिये क्यों देरहा है ? फिर उस मृत्यु का भी आज क्या काम

+ परमात्मा को भी लक्ष्य करके कथन है।

है जो वह मुझसे लेगा या मेरा क्या बनाएगा ? क्या मृत्यु के प्रति मेरा प्रदान किया जाना नेत्र आदि का अग्नि आदि देवताओं को सौंपने के समान है या क्या ?। यह दो चिन्ताएं तो थीं नचिकेता अर्थात् जीवात्मा को, परन्तु प्राण को यह चिन्ता लगी कि हा ! मैंने क्या किया नचिकेता-जीवात्मा को मृत्यु के प्रति सौंप देने का सङ्कल्प किया अब मेरी सम्पत्ति मेरा खजाना अन्नमयकोष शरीर तो नष्ट हो जावेगा फिर न मिल सकेगा यह मैंने कैसी भूल की। इस पर प्राण को नचिकेता-जीवात्मा कहता है कि—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

अन्वयार्थ—(यथा पूर्वे-अनुपश्य) हे प्राण ! जिस प्रकार तू पूर्वकाल में मृत्यु के प्रति मेरे देने का सङ्कल्प करके था (तथा परे प्रतिपश्य) उसी प्रकार पर काल में अर्थात् अब उस सङ्कल्प का प्रतिपालन करके हो 'दान का सङ्कल्प करना और फिर देते समय पछताना शोभाजनक नहीं' और जिस शरीर के लिये तू चिन्ता करता है कि मुझ से नष्ट हो जायगा सो भी चिन्ता करनेयोग्य नहीं कारण कि (मर्त्यः सस्यम्-इव पच्यते पुनः सस्यम्-इव-आजायते) शरीर तो खेत में खड़े अन्न—अन्न पोधे की भांति पकता है और फिर अन्न—अन्नपोधे की भांति उत्पन्न होता है। यह तो फिर भी मिल जावेगा अतः मुझे मृत्यु के प्रति देदे ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(वैश्वानरः-ब्राह्मणः-अतिथिः-गृहान् प्रविशति) 'प्राण ने नचिकेता–जीवात्मा को मृत्यु के प्रति सौंप दिया' वह सर्व-शरीर नेता ब्रह्म का पुत्र अतिथि–मृत्यु के यहाँ जाने की कोई तिथि न रखने वाला तथा यहां स्थायी न रहने वाला मृत्यु के घरों--यमालय नामक वायु के स्तरों परिधियों अर्थात् एक परिधि में पुनः दूसरी परिधि पश्चात् तीसरी में प्रवेश करता है † 'जब सारी परिधियां पूरी कर अन्तिम परिधि में पहुँचा तब मृत्यु ने सोचा कि अरे मृत्यु ! तेरे यहां यह अतिथि आया इसका कुछ स्वागत न हुआ संसारमें लोग (तस्य-एतां शान्तिं कुर्वन्ति) उस इस अतिथि की-अतिथि के लिये शान्ति करते हैं अतः (वैवस्वत-उदकं हर) हे मृत्यु ! तू उसके लिये जल ले चल।

आशय—शरीर से निकल कर जीवात्मा मृत्यु के यहां यमालय अर्थात् वायुपरिधियों मरुत्स्तरों में चला जाता है परन्तु वहां ठहरता नहीं परिधियों में को क्रमशः प्रवेश करता हुआ अन्तिम परिधि में मेघमण्डल को पुनर्जन्मार्थ प्राप्त होता है, वेद में कहा है "यमं पश्यासि वरुणं च देवम्" (ऋ० १०।१४।७) अर्थात् जीवात्मा शरीर छोड़ कर यम–वायुमण्डल और

† "(प्रश्न) मरकर जीव कहां जाता है (उत्तर) यमालय में (प्रश्न) यमालय किस को कहते हैं (उत्तर) वाय्वालय को (सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समु०)

मेघजल को देखता है ॥७॥

अतिथि का आतिथ्य होना चाहिये—

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृताञ्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति
ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य गृहे) जिसके घर में (ब्राह्मणः- अनश्नन् वसति) ब्राह्मण विना भोजन—भोग के बसता है उस (अल्पमेधसः पुरुषस्य) अल्पयज्ञवाले 'अतिथि यज्ञ न करके अन्य यज्ञ करने वाला मानो अल्पयाजी है' मनुष्य के (आशाप्रतीक्षे) भविष्य में होने वाला अभीष्ट और वर्तमान का तथा (सङ्गतम्) भूतकालिक ऐश्वर्य (च) और (सूनृताम्) उत्तम वाणी--विद्या (इष्टापूर्ते) यज्ञयाग आदि कर्म और परहित सार्वजनिक शुभ कर्म—कूप तडाग वापी मार्ग उद्यान धर्मशाला विश्रामस्थान आदि (च) और (सर्वान्) सब (पुत्रपशून्) पुत्रपशुओं को (एतत्) यह अतिथि का अपमान, (वृङ्क्ते) वस्तुमात्र को नष्ट कर देता है* ॥८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सी गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् ! स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान्
वृणीष्व ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्मन् यत्-मे गृहे) हे जीवात्मन् ! जिस से कि मेरे यमालयरूप घर में (अनश्नन्-तिस्रः-रात्रीः-अवात्सीः) विना

* यह कथन है अतिथिसेवा के महत्त्व और तिरस्कार दोष का दर्शक है ।

भोग के तीन रात्रियां तू बसा है (अतिथिः-नमस्यः) अतिथि नमस्कारकरने—सत्करने योग्य होता है परन्तु मेरे यहां तेरा कोई सत्कार नहीं हुआ सो (ब्रह्मन् नमस्ते-अस्तु स्वस्ति मे अस्तु) हे जीवात्मा ! तेरे लिये सत्कार हो और मेरे लिये स्वस्ति हो (तस्मात् प्रति) इसके बदले में (त्रीन् वरान् वृणीष्व) तीन वर मांगले ।

जीव देहपात के अनन्तर मृत्यु के घरों यमालय अर्थात् वायु की परिधियों को प्राप्त होता है। पृथिवीस्थान वायु अन्तरिक्ष स्थान वायु और द्युस्थान वायु के भेद से वायु की तीन परिधियां या स्तर हैं इनमें को होकर क्रमशः जीव जाता है इन तीनों में को जीव का जाना यम या मृत्यु के यहां प्रत्येक के क्रम से मानों तीन रात्रियां व्यतीत करना है और विना खाए या विना भोग किए है कारणकि भोग तो स्थूल शरीर से होता है यहां वह स्थूल शरीर नहीं है। इस प्रकार मृत्यु की परिभाषा से ये तीन रात्रियां हैं, मनुष्यों की दृष्टि से नहीं क्योंकि कोई कोई जीव तो घण्टों या मिनटों मात्र का जीवन रखने वाला होता है अतः ये रात्रियां हमारी दृष्टि से नहीं हैं ॥९॥

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्यु गौतमो मा ऽभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

अन्वयार्थ—(मृत्यो मा-अभि) हे मृत्यु ! मेरे प्रति (गौतमः) प्राण [1] (शान्तसङ्कल्पः सुमनाः-वीतमन्युः-यथा स्यात्) शान्त

[1] अतिशयेन गच्छतीति गोतमः--प्राणः गोतम एव गौतमः, स्वार्थेऽण् प्रत्ययः।

सङ्कल्पवाला अर्थात् स्वस्थ, सुमनाः-अच्छे मन वाला नियन्त्रित पवित्र मन वाला, विचलितता से रहित हुआ जिस प्रकार हो सके तथा (त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवेदत् प्रतीतः) तेरे से भेजा हुआ मुझे यह पहिचान कुछ न कहे (त्रयाणाम्-एतत् प्रथमं वरं वृणे) तीन में से यह प्रथम वर मांगता हूं।

नचिकेता अर्थात् जीवात्मा मृत्यु को प्राप्त होकर सदा के लिये विनष्ट हो जाता हो ऐसी वस्तु नहीं किन्तु वह अमर है अतएव पूर्व शरीर की त्रुटियां अब अगले शरीर में न आवें सो दूसरे में जीवनीय प्राण स्वस्थ पवित्र पापरहित संयमित मन वाला हो यह प्रथम वर है जिस से दूसरे शरीर में संयम से रह कर श्रेष्ठ पुण्य कर्म कर सके॥ १०॥

यथापुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११॥

अन्वयार्थ—(औद्दालकिः-आरुणिः) हे नचिकेता-जीवात्मा! तू चिन्ता न कर आरुणि---समस्त शरीर में गतिमान्[2] तेरा वह औद्दालकि—वायुपुत्र[3] प्राणरूप पिता (मत्प्रसृष्टः) मेरी प्रेरणा से (यथापुरस्तात् प्रतीतः-भविता) पूर्व की भांति तुझे जानकर—अपना मान कर होगा 'तू कोई प्रथमवार ही तो

[2] आरवते समन्तात् गच्छति शरीरे = आरुणिः प्राणः। "ऋङ् गतौ"
[3] उद्दालयति—उच्चालयति संसारस्थान् पदार्थान् उद्दालको वायुस्तस्य पुत्रः-औद्दालकिः प्राणः।

मेरे पास नहीं आया' अतः (मृत्युमुखात् प्रमुक्तं त्वां ददृशिवान्) जब तुझे मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देखेगा तो (वीतमन्युः सुखं रात्रीः शयिता) विकलतारहित हो सुख की रातें सोएगा।

जीवात्मा पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होता है और पुनः पुनः शरीर में प्राण को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

नचिकेता का द्वितीय वर—

उक्त ११ वचनों तक नचिकेता के प्रथम वर का वर्णन था। प्रथम वर का आधार 'वायु+अनिल+अमृत=बाह्यवायु+आन्तरिक वायु प्राणशक्ति+अमर आत्मा' था और जिसका उद्देश्य 'कृतं स्मर=किए हुए का स्मरण करना या कर्म का स्मरण करना था। अब नचिकेता के दूसरे वर के आधार 'अनिल+अमृत= आन्तरिक प्राणशक्ति+अमर आत्मा और उद्देश्य 'क्लिवे स्मर=सामर्थ्य का स्मरण करना' है, इस दूसरे वर में आत्मा की स्थिति प्राणशक्ति के साथ हृदयगुहा में मानस भूमि पर है उसका वर्णन अब किया जाता है—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥
स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि श्रद्दधानाय मह्यम्।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

अन्वयार्थ—(मृत्यो स्वर्गे लोके न भयं किञ्चन-अस्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति) ओ मृत्यु ! स्वर्ग लोक में कुछ भय नहीं है न वहां तू है न जरा अवस्था से कोई डरता है (उभे अशनायापिपासे तीर्त्वा स्वर्गे लोके शोकातिगः-मोदते) दोनों भूख प्यास--आशातृष्णा--स्थूल सूक्ष्म भोगों को तरकर उस स्वर्ग-लोक में शोकातीत हुआ मनुष्य आनन्द करता है (स्वर्ग्यम्-अग्निं सः-त्वम्-अध्येषि), उस स्वर्गलोक के प्राप्त कराने वाले अग्नि को तू जानता है (तं मह्यं श्रद्दधानाय प्रब्रूहि) उसे मुझ श्रद्धा रखते हुए के प्रति प्रवचन कर—समझा (स्वर्गलोकाः-अमृतत्वं भजन्ते) स्वर्गलोक वाले अमृतपन का सेवन करते हैं (एतद् द्वितीयेन वरेण वृणे) यह द्वितीय वर से मैं याचना करता हूं—द्वितीय वर मांगता हूं ॥ १२, १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(नचिकेतः-स्वर्ग्यम्-अग्निं प्रजानन्) हे नचिकेता स्वर्गसाधक अग्नि को मैं जानता हुआ (ते प्रब्रवीमि तत्-उ मे निबोध) तेरे प्रति उपदेश करता हूँ उस मेरे वचन को तू समझ (अनन्तलोकाप्तिम्-अथ प्रतिष्ठाम्) जो अनन्त लोकों-

कामनाओं का प्रतिस्थान एवं प्रतिष्ठारूप है उसे (त्वम्-एतम्-गुहायां निहितं विद्धि) तू हृदयगुहा में वर्तमान समझ।

सुखपूर्ण मानस भूमि को प्राप्त करानेवाली अग्नि अहं-ज्योति हृदयगुहा में वर्तमान है वहां तू उसे जान।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥१५॥

अन्वयार्थ—(तस्मै) उस नचिकेता के लिये (तं लोकादिम्-अग्निम्) उस कामनाओं के आदि अग्नि—मानस अग्नि को मृत्यु ने बतलाया (याः-यावतीः-वा यथा वा-इष्टकाः) जो जितनी और जैसी इष्टकाएं स्थलियां भूमियां एवं एषणाएं वासनाएं वृत्तियां हैं (स च-अपि तत्-यथोक्तं प्रत्यवदत्) उस नचिकेता ने भी उक्त प्रवचन को जैसे का तैसा उसे सुना दिया (अथ-अस्य मृत्युः-तुष्टः पुनः-आह) अनन्तर इसको मृत्यु प्रसन्न हो पुनः बोला॥ १५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरन्तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥१६॥

अन्वयार्थ—(प्रीयमाणः-महात्मा तम्-अब्रवीत्) प्रसन्न हुआ महात्मा मृत्यु उस नचिकेता को बोला (अद्य तव वरम्-इह भूयः-ददामि) आज तेरे लिये वर इस अवसर पर अधिक देता हूं, वह यह कि (अयम्-अग्निः-तव—एव नाम्ना भविता) यह

अग्नि—अहं ज्योतिरूप तेरे ही नाम से नाचिकेता—जीवात्मा के नाम से 'नाचिकेत जीवात्मरूप नाम से' प्रसिद्ध होगी (च) और (इमाम्—अनेकरूपां सृङ्कां गृहाण) इस अनेक रूप सृङ्का—शृङ्खला—पद्धति— मार्गक्रमिका को तू पकड़ 'जोकि यह अगले वचन में है'—॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति।१७।

अन्वयार्थ—(त्रिणाचिकेत:) तीन नचिकेत—न चिकेतन—निरोध कर लिया जिसने—मन बुद्धि चित्त को निरोध करके अहङ्कार में वर्तमान हुआ मनुष्य (त्रिभि: सन्धिम्—एत्य) तीन स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों के सन्धान को उल्लाङ्घ कर (त्रिकर्म-कृत्) तीन कर्मों—शारीरिक वाचिक और मानसिक कर्मों को कर चुका हुआ (जन्ममृत्यू तरति) जन्म और मृत्यु को तर जाता है (ब्रह्मजज्ञम्-ईड्यं देवं विदित्वा निचाय्य) ब्रह्मज—ब्रह्माण्ड को जानने वाले स्तुत्य स्वात्मरूप अग्निदेव को समझकर और संयमित करके (इमां शान्तिम्-अत्यन्तम्-एति) इस शान्ति को सर्वथा प्राप्त करता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् । स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।१८।

अन्वयार्थ-(त्रिणाचिकेत:-एतत त्रयं विदित्वा) उक्त त्रिणा-

चिकेत आदि इन तीन बातों को जानकर (यः-एवं विद्वान् नाचिकेतं चिनुते) जो ऐसा विद्वान् नाचिकेत तीन के निरोधरूप अहंज्योति—आत्माग्नि का चयन करता है (सः मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य) वह मृत्युपाशों को मृत्यु से पूर्व छिन्न भिन्न करके (शोकातिगः-स्वर्गलोके मोदते) शोक से अतीत हुआ स्वर्ग लोक में हर्षित होता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेण वरेण । एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(नचिकेतः-एषः-ते स्वर्ग्यः-अग्निः) हे नचिकेता! यह तेरा स्वर्गसाधक अग्नि है (यं द्वितीयेन वरेण-अवृणीथाः) जिसको तूने द्वितीय वर करके वरा था (एतम्-अग्निं तव-एव नाम्ना जनासः-वक्ष्यन्ति) इस अग्नि को तेरे ही नाम से मनुष्य कहेंगे (नचिकेतः-तृतीयं वरं वृणीष्व) हे नचिकेता ! तू अब तृतीय वर को मांग ॥१९॥

नचिकेता का तृतीय वर—

तृतीय वर का आधार 'अमृत' अर्थात् जीवात्मा और उद्देश्य ओ३म् स्मरण करना है यह हम उत्थानिका में कह आए हैं इसी प्रकार यहां उपनिषद्वचनों में पाठक देखेंगे ।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(प्रेते) किसी भी प्राणी के मर जाने पर (इयं

(या विचित्किसा) यह जो विवेचना या सन्देह (मनुष्ये) मनुष्ये के अन्दर होती है कि (अस्ति--इति-एके-न--अस्ति-इति-च-एके) इस मरे हुये से भिन्न आत्मा अमर है ऐसा कुछ कहते हैं और नहीं है ऐसा कुछ कहते हैं (अहं त्वया-अनुशिष्टः-एतत्-विद्याम्) मैं तुझसे शिक्षा पाया हुआ इसे जानूं (वराणाम्-एषः-तृतीयः-वरः) वरों में यह तीसरा वर है ॥२०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(नचिकेतः-अत्र देवैः-अपि विचिकित्सितम्) हे नचिकेता इस विषय में पहिले देवों ने भी विवेचना या सन्देह किया (न हि सुविज्ञेयम्) यह सुगमता से समझने योग्य नहीं है (एषः-धर्मः-अणुः) यह विषय सूक्ष्म है (अन्यं वरं वृणीष्व) अन्य वर को मांग ले (मा मा-उपरोत्सीः) मत मेरे ऊपर चढ़-मत मुझे दबा (एनं मा सृज) इस प्रश्नप्रहार को मेरे ऊपर मत छोड़—इसे मत बर ॥२१॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(मृत्यो-अत्र देवैः-अपि किल विचिकित्सितम्) हे मृत्यु ! इस विषय में देवों ने भी जबकि सन्देह किया

(त्वं च यं न सुविज्ञेयम्-आत्थ) और तू जिसे सुविज्ञेय नहीं कहता है (अस्य वक्ता च त्वादृक्-अन्यः-न लभ्यः) इसका वक्ता भी तेरे जैसा अन्य कोई नहीं प्राप्त हो सकता (एतस्य तुल्यः-अन्यः-वरः-न) इसके समान अन्य वर भी कोई नहीं फिर इसे मैं क्यों न वरूं ॥२२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् हस्तिहिरण्यमश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

अन्वयार्थ—(शतायुषः पुत्रपौत्रान्-वृणीष्व) सैकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र पौत्रों को लेले (बहून्-पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्) बहुत पशुओं हाथी सोना घोड़ों को मांग ले (भूमेः-महद् आयतनं वृणीष्व) भूमि के बड़े प्रदेश को मांगले (स्वयं च जीव शरदः यावत्-इच्छसि) और स्वयं जीवित रह जब तक तू चाहता है ॥२३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च । महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

अन्वयार्थ—(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (यदि-एतत्तुल्यं मन्यसे वरं वृणीष्व) यदि तू इसके तुल्य वर समझता है तो मांगले (वित्तं चिरजीविकां च) धन और चिरजीविका को भी मांगले (महाभूमौ त्वम्—एधि) महाभूमि में तू अधिकर्ता

हो (त्वा कामानां कामभाजं करोमि) मैं तुझे कामनाओं का कामभागी बनाता हूँ ॥२४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(ये ये कामाः-मर्त्यलोके दुर्लभाः) जो जो कामनाएं या कामनापूरक पदार्थ मनुष्यलोक में दुर्लभ हैं (सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व) उन सब कामनाओं को इच्छानुसार मांगले (इमाः सरथाः सतूर्याः-रामाः) ये रथसहित रमणीयां स्त्रियां हैं (ईदृशाः-मनुष्यैः-नहि लम्भनीयाः) ऐसी मनुष्यों से प्राप्त होने वाली नहीं हैं (आभिः-मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व) इन मेरी दी हुई के द्वारा सेवा करा (नचिकेतः-मरणं मा-अनुप्राक्षीः) हे नचिकेता ! मरण प्रश्न को मत पूछ ॥२५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

अन्वयार्थ—(अन्तक) हे मृत्यो ! (यत्) कि (श्वोभावाः) कलतक सत्तावाले अर्थात् अनित्य पदार्थ हैं (मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणां तेजः-जरयन्ति) मनुष्य की सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करते हैं (अपि सर्वं जीवितम्-अल्पम्-एव) और

भी सब जीवन अल्प ही है (तव-एव वाहाः-तव नृत्यगीते) तेरे ही ये वाहन हैं और तेरे ही नृत्यगीत रहें ॥२६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(वित्तेन मनुष्यः-न तर्पणीयः) भोगसम्पत्ति से मनुष्य तृप्त नहीं किया जासकता (वित्तं लप्स्यामहे त्वा चेत्-अद्राक्ष्म) भोगसम्पत्ति प्राप्त करसकेंगे यदि तुझे हम देखते रहे (जीविष्यामः-यावत्-ईशिष्यसि) जीवेंगे जब तक तू स्वामी रहेगा (वरः-तु मे वरणीयः सः-एव) वर तो मेरा वरणीय वही है ॥ २८ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन् । अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

अन्वयार्थ—(अजीर्यताम्-अमृतानाम्-उपेत्य) न जीर्णहोने वाले अमृतभोगों को प्राप्त होके (जीर्यन् मर्त्यः क्वधस्थः 'कु-अधस्थः' प्रजानन्) अपने को जीर्ण होता हुआ मनुष्य कु अर्थात् पृथिवी पर नीचे रहने वाला समझता हुआ (वर्णरतिप्रमोदान्-अभिध्यायन्) वर्ण-रति प्रमोदों को ठीक ठीक समझता हुआ (कः-अतिदीर्घजीविते रमेत) कौन अति दीर्घजीवन में रमण करे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(मृत्यो यस्मिन्-इदं विचिकित्सन्ति) हे मृत्यो जिस के विषय में यह सन्देह करते हैं (यत्-महति साम्पराये एतत्-नः-हि) जो महान् साम्पराय अर्थात् उपाय-अभिप्राय की पराकाष्ठा में है उसे हमारे लिये कह (यः-अन्यं वरः-गूढमनुप्रविष्टः) जो यह वर गूढ रूप को प्राप्त है (तस्मात्—अन्यः नचिकेताः-न वृणीते) उससे भिन्न नचिकेता नहीं वरता है॥२९॥

प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली ।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः । तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

अन्वयार्थ—(अन्यत्-श्रेयः-अन्यत्-उत-एव प्रेयः) श्रेयः अन्य वस्तु है और प्रेयः अन्य है (ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः) वे दोनों भिन्न भिन्न विषय वाले होते हुए मनुष्यके साथ सम्बन्ध करते हैं (तयोः श्रेयः—आददानस्य) उन दोनों में से श्रेयः को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है (यः-उ प्रेयः-वृणीते) जो ही प्रेय को वरता है—अपनाता है (अर्थात्-हीयते) वह अर्थ से—उद्देश्य से पुरुषार्थ से हीन हो जाता है—गिर जाता है ॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(श्रेयः-च प्रेयः-च) श्रेय और प्रेय दोनों (मनुष्यम्—एतः) मनुष्य को प्राप्त होते हैं (धीरः–तौ सम्परीत्य विविनक्ति) धीर उन दोनों को भली भांति समझकर अलग अलग करता है (धीरः प्रेयसः श्रेयः–अभिवृणीते) धीर प्रेय से श्रेय को ले लेता है अपना लेता है (मन्दः–योगक्षेमात् प्रेयः–वृणीते) मन्द पुरुष योग क्षेम से प्रेय को अपनाता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(सः–त्वं नचिकेतः) वह नचिकेता ! तूने (प्रियान् प्रियरूपान् कामान् च–अभिध्यायन्--अत्यस्राक्षीः) प्रिय प्रियरूप विषयों को विवेचन करते हुये छोड़ दिया (एतां वित्तमयीं सृङ्कां न–अवाप्तः) इस भोगसम्पत्तिमय शृङ्खला को तूने प्राप्त नहीं किया (यस्यां बहवः --मनुष्याः--मज्जन्ति) जिसमें बहुत मनुष्य मग्न होजाते हैं—फंस जाते हैं ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता विद्याभीप्सिनन्नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(एते दूरं विपरीते विषूची) ये एक दूसरे से दूर विपरीत भिन्न भिन्न विषय वाली हैं (या--अविद्या विद्या--इति च ज्ञाता) जो अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध है (विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये) विद्या चाहने वाला नचिकेता को मानता हूँ (त्वा बहवः कामाः--न लोलुपन्त) तुझे बहुत कामनाएं लोलुप नहीं करती हैं ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।५।

अन्वयार्थ—(अविद्यायाम्-अन्तरे वर्तमानाः) अविद्या में वर्तमान हुये (स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः) स्वयं धीर पण्डितम्मन्य जन (दन्द्रम्यमाणाः-मूढाः परियन्ति) कुटिलगति करते हुये मूढ घूमते हैं (यथा-अन्धेन-एव नीयमानाः-अन्धाः) जैसे अन्धे से ले जाये हुये अन्धे घूमते हैं ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।६।

अन्वयार्थ—(वित्तमोहेन मूढं प्रमाद्यन्तं बालम्) भोग के मोह में मूढ हुए प्रमाद करने वाले अर्थात अज्ञ अबोध मनुष्यको (साम्परायः न प्रतिभाति) महान् उपाय और महान् अभिप्राय वाला विषय मोक्षअच्छा नहीं लगता है (अयं लोक-न अस्ति परः इति मानी) यह लोक है पर--लोक नहीं है ऐसा मानने वाला (पुनः पुनः--मे वशम्—आपद्यते) बार बार मेरे वश में आता है ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(बहुभिः श्रवणाय-अपि यः-न लभ्यः) बहुतों से सुनने के लिये भी जो लभ्य नहीं है (शृण्वन्तः-अपि बहवः-यं न विद्युः) सुनते हुए भी बहुतेरे जिसे नहीं जानते हैं (अस्य कुशलः-वक्ता-आश्चर्यः-लब्धा) इसका कुशल वक्ता आश्चर्य प्राप्त करने वाला है (कुशलानुशिष्टः-ज्ञाता-आश्चर्यः) कुशल से उपदिष्ट हुआ ज्ञाता कोई विरला होता है ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।८।

अन्वयार्थ—(अवरेण नरेण प्रोक्तः-एषः-बहुधा चिन्त्यमानः न सुविज्ञेयः) साधारण मनुष्य द्वारा उपदिष्ट यह बहुत विचारणीय विषय सुविज्ञेय नहीं है (अनन्यप्रोक्ते-अत्र गतिः-न-अस्ति) इस अविरले द्वारा समझाए हुए में गति नहीं होती है (अणु-प्रमाणात्-अणीयान् हि-अतर्क्यम्) सूक्ष्मपरिमाणवाला होने से तर्कनारहित है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ता ऽन्येनैव सुविज्ञानाय प्रेष्ट। यान्त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।९।

अन्वयार्थ—(प्रेष्ठ-:एषा मतिः—न तर्केण--आपनेया) हे

अत्यन्त प्रिय ! यह मति तर्क से 'आपनेया—आपनीया' प्राप्त करने योग्य नहीं है या यह मति तर्क से 'आपनेया—अपनेया' हटाने योग्य नहीं है (यां त्वम्-आपः) जिस मति को तूने प्राप्त किया है (बत सत्यधृतिः-असि) हे दयनोय तू सत्य-धृतिवाला है (नचिकेतः-त्वादृक् प्रष्टा नो भूयात्) तेरे जैसा पूछने वाला नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

जानाम्यह ᳫं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् । ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(अहं जानामि शेवधिः-इति-अनित्यम्). मैं जानता हूँ कि भोगसम्पत्ति का कोष अनित्य है (तत्-ध्रुवम्-अध्रुवैः-न हि प्राप्यते) वह ध्रुव अर्थात् नित्य ब्रह्म अध्रुव अर्थात् अनित्य वस्तुओं से प्राप्त नहीं होसकता (मया अनित्यैः-द्रव्यैः-नाचिकेतः-अग्निः-चितः) मैंने अनित्यवस्तुओंद्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया अर्थात् अनित्य वस्तुओं को काष्ठ बनाकर उन्हें जलाकर नाचिकेत अग्नि अर्थात् निरोधरूप या आत्मस्वरूप अग्नि का चयन किया (ततः-नित्यं प्राप्तवान्-अस्मि) तब मैं नित्य ब्रह्म को प्राप्त कर सका ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् । स्तोमं महदुरुगायम्प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ११ ॥

अन्वयार्थ—(कामस्य-आप्तिं जगतः प्रतिष्ठाम्) कामना के प्राप्तिस्थान और जगत् के प्रतिष्ठान—आश्रय तथा (अभयस्य क्रतोः-अनन्त्यं पारम्) भय-निवारक यज्ञ के भी अनन्त्य असीम पाररूप (स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठाम्) स्तुतियोग्य महान् बहुत प्रशंसनीय गानेयोग्य प्रतिष्ठारूप ब्रह्म को (नचिकेतः-दृष्ट्वा) हे नचिकेता ! तू ने देखकर (धीरः-धृत्या-अत्यस्राक्षीः) धीर हो धैर्य से छोड़ दिया ॥ ११ ॥

तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(धीरः) धीर जन (तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं देवम्) उस कठिनाई से दीखने योग्य गूढ को प्राप्त हृद्गुहा में रखे हुए गहरों में वर्तमान पुरातन सनातन देव को (मत्वा) मानकर (हर्षशोकौ जहाति) हर्ष-शोक को छोड़ देता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इसको (श्रुत्वा) श्रवण करके (सम्परिगृह्य) सम्परिग्रहण—मनन करके (प्रवृह्य) प्रवर्हण—निदिध्यासन करके (एतं धर्म्यम्-अणुम्-आप्य) इस

धर्मसार सूक्ष्म ब्रह्म को प्राप्त करके साक्षात् करके (सः-मोदनीयं हि लब्ध्वा मोदते) वह मोदनीय को प्राप्त करके हर्षित होता है (विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये) खुला हुआ स्थान सच्चा पात्र नचिकेता को मानता हूं ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मात्-अन्यत्र) धर्म से अन्यत्र-पृथक् (अधर्मात्-अन्यत्र) अधर्म से पृथक् (अस्मात् कृताकृतात्-अन्यत्र) इस कृत-कार्य अकृत-कारण से अलग है (भूतात्-च भव्यात्-च-अन्यत्र) भूत और भविष्य के व्यवहार से पृथक् है (यत् तत् पश्यसि) जिस उस को तू देखता है (तत्-वद) उसे कह ॥१४॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(सर्वे वेदाः-यत् पदम्-आमनन्ति) समस्त वेद जिस प्रापणीय पद का बोधन कराते हैं-आश्रय लेते हैं (सर्वाणि तपांसि च यत्-वदन्ति) और सारे तप जिसे कह रहे हैं (यत्-इच्छन्तः-ब्रह्मचर्यं चरन्ति) जिस को चाहते हुए ब्रह्मचर्य सेवन करते हैं (तत् पदं ते सङ्ग्रहेण ब्रवीमि-ओम्-इति-एतत्) वह पद तेरे लिये संक्षेप से कहता हूं यह 'ओम्' है॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(एतत्-हि-एव-अक्षरं ब्रह्म) बस यह ही अक्षर ब्रह्म है (एतत्-एव-अक्षरं परम्) यही अक्षर पर है (एतत्-हि-अक्षरं ज्ञात्वा) इस ही अक्षर को जानकर (यः-यत्-इच्छति तस्य तत्) जो जिसे चाहता है उसका वह होजाता है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(एतत्-आलम्बनं श्रेष्ठम्-एतत्-आलम्बनं परम्) यह सहारा श्रेष्ठ है यह सहारा बढ़कर है (एतत्-आलम्बनं ज्ञात्वा) इस आलम्बन को जानकर (ब्रह्मलोके महीयते) ब्रह्म-लोक में महिमा को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्य-माने शरीर ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(विपश्चित्) चेतन आत्मा (न जायते म्रियते वा) न उत्पन्न होता है न मरता है (अयं न कुतः-चित्) यह न किसी से हुआ (न कः-चित्-बभूव) न कोई इस से हुआ है (अयम्-अजः-नित्यः शाश्वतः पुराणः) यह अज नित्य शाश्वत और पुराण है (हन्यमाने शरीरे न हन्यते) नष्ट होने वाले शरीर में नष्ट नहीं होता है ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु थं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(हन्ता चेत्—हन्तुं मन्यते) मारने वाला यदि इसे मारने को 'मराजाने योग्य' मानता है (हतः-चेत्-हतं मन्यते) और यदि मार खाया हुआ अपने को मरा हुआ मानता है (तौ उभौ न विजानीतः) ये दोनों नहीं जानते हैं (अयं न हन्ति न हन्यते) यह चेतन आत्मा न मारता है न मारा जाता है ॥१६॥

अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(अणोः-अणीयान् महतः- महीयान्-आत्मा) अणु से अणु महान् से महान् आत्मा ब्रह्मरूप चेतन पदार्थ (अस्य जन्तोः) इस जीवात्मा के (गुहायां निहितः) हृद्गुहा में रखा है (तम्-अक्रतुः-वीतशोकः) उसे सङ्कल्परहित अर्थात् निरुद्धमनवाला शोक से विहीन हुआ (धातुः प्रसादात्-आत्मनः-महिमानं पश्यति) धाता-विधाता परमेश्वर के प्रसाद से देखता है ॥२०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

अन्वयार्थ—(आसीनः-दूरं व्रजति) परमात्मा सर्वत्र व्याप्त

रूप में समासीन होता हुआ दूर तक गतिमान् है (शयानः सर्वतः-याति) विभुरूप से बसा हुआ सब ओर गतिमान् है (तं मदामदम्) उस हर्ष और अतिहर्ष के देने वाले देव को (मत्-अन्यः कः ज्ञातुम्-अर्हति) मेरे से भिन्न कौन जान सकता है ॥२१॥

अशरीर ँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

अन्वयार्थ—(शरीरेषु-अशरीरम्) शरीरों में अशरीर रूप से वर्तमान (अनवस्थेषु-अवस्थितम्) अस्थिर पदार्थों में स्थिर रूप से विराजमान (महान्तं विभुम्-आत्मानम्) महान् विभु आत्मा को (मत्वा धीरः-न शोचति) मान कर धीर शोच नहीं करता है ॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनू ँ स्वाम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(अयम्-आत्मा न प्रवचनेन लभ्यः) यह परमात्मा प्रवचनमात्र से प्राप्त होने योग्य नहीं है (न मेधया न बहुना श्रुतेन) मेधा से भी प्राप्त होने योग्य नहीं न बहुत श्रवणद्वारा ही प्राप्त होने योग्य है (यम्-एव-एषः-वृणुते तेन लभ्यः) जिसको ही यह वरता है 'आत्मतत्त्व को यह वरता है' उससे प्राप्त होने योग्य है। (तस्य-एषः-आत्मा स्वां तनूं

वृणुते) उसका 'आत्मतत्त्व का' यह आत्मा है 'यह आत्मतत्त्व इसका शरीर है' अपने शरीर को अपनाता है [1] ॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अविरतः-दुश्चरितात्) अतिरागी दुश्चरित होने से (एनं न-आप्नुयात्) इस परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है (अशान्तः--न--असआहितः--न) अशान्त इसे प्राप्त नहीं कर सकता असमहित इसे प्राप्त नहीं कर सकता (अशान्तमानसः--वा--अपि न प्रज्ञानेन) अशान्तमनोवृत्तिवाला भी इसे बुद्धिमात्र से प्राप्त नहीं कर सकता ॥२४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम् ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च) जिस परमात्मा के ब्राह्मबल और क्षात्रबल (उभे ओदनं भवतः) दोनों हलका भोजन होता है (यस्य मृत्युः--उपसेचनम्) और मृत्यु जिसका ऊपर से घृत दूध आदि मिलान हो जाता है (कः--इत्था वेद यत्र सः) कौन ऐसे को जानता है जहां वह हो [2] ॥

---

[1] "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" (बृहदारण्यको०)

[2] संसार में तीन शक्तियां है ज्ञानशक्ति, क्षात्रशक्ति और विनाश-शक्ति वह परमात्मा इन तीनों के वश नहीं किन्तु इन तीनों को अपने में पचाता है ॥

अथ तृतीया वल्ली ।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ परमे परा-र्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

अन्वयार्थ—(सुकृतस्य लोके--ऋतं पिबन्तौ) शुद्ध पवित्र चेतनत्व के स्वरूप में वर्तमान ज्ञान का पान करते हुये (परमे परार्द्धे गुहाम्प्रविष्टौ) परम पद में हृद्गुहा में प्रविष्ट हुये जीवात्मा और परमात्मा को (छायातपौ) छाया और आतप की भांति परस्पर अनिवार्य सङ्गत (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता (वदन्ति) कहते हैं (पञ्चाग्नयः--ये च त्रिणाचिकेताः) पञ्चाग्नि के सम्पादक पांचों प्राणाग्नियों के अभ्यासी और त्रिणाचिकेत अर्थात तीन प्रकार की अग्नियों का चयन मन बुद्धि चित्त का निरोध जिन्होंने किया हुआ है ऐसे ब्रह्मज्ञानी कहते हैं॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत ँ शकेमहि ॥२॥

अन्वयार्थ—(यः–ईजानानां सेतुः) जो यज्ञकर्ताओं का सेतु है आश्रय है (यत्-अक्षरं ब्रह्म परम्) जो अविनाशि पर ब्रह्म है (तितीर्षताम्-अभयं पारम्) तैरने वालों का अभय पार (नाचिकेतं शकेमहि) नाचिकेत अनात्मप्रवृत्तिरहित आत्मभाव को प्राप्त कर सकें ॥२॥

आत्मान ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

अन्वयार्थ—(आत्मानं रथिनं विद्धि) आत्मा को रथवान् जान (शरीरं रथम्-एव तु) शरीर को रथ ही जान (बुद्धिं तु सारथिं विद्धि) बुद्धि को सारथि रथचालक समझ (मनः प्रग्रहम्-एव च) और मन को लगाम समझ ॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियाणि हयान् आहुः) इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं (तेषु विषयान् गोचरान्) उनके निमित्त विषयों को मार्ग कहते हैं (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता-इति मनीषिणः-आहुः) आत्मा-इन्द्रिय-मन से युक्त समूह को भोक्ता मनीषी जन कहते हैं ॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

अन्वयार्थ—(यः-तु-अविज्ञानवान् भवति) जो तो विज्ञान-रहित--बुद्धिरहित होता है (सदा-अयुक्तेन मनसा) और सदा अनेकाग्र मनवाला या मन को युक्त न करनेवाला होता है (तस्य-इन्द्रियाणि-अवश्यानि) उसकी इन्द्रियां वश से बाहिर होजाती हैं (दुष्टाश्वाः-इव सारथेः) जैसे किसी सारथि के दुष्ट घोड़े ॥५॥

यस्तुविज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

अन्वयार्थ—(यः-तु विज्ञानवान् भवति सदा युक्तेन मनसा) जो तो सदा स्थिर मन से सहित बुद्धिवाला होता है (तस्य-इन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वाः-इव सारथेः) उसकी इन्द्रियां वशकरने योग्य होती हैं सारथि के अच्छे घोड़ों की भांति ॥६॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥७॥

अन्वयार्थ—(यः-तु-अविज्ञानवान्-अमनस्कः सदा-अशुचिः-भवति) जो तो अबुद्धिमान् असनस्वी सदा अपवित्र होता है (सः-तत् पदम्-न-आप्नोति) वह उस पद को प्राप्त नहीं करता है (च) और (संसारम्--अधिगच्छति) संसार के अन्दर आता है ॥७॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

अन्वयार्थ—(यः-विज्ञानवान् समनस्कः सदा शुचिः-भवति) जो तो बुद्धिमान् मनस्वी सदा पवित्र होता है (सः-तु तत्पदम्-आप्नोति) वह तो उस पद को प्राप्त होता है (यस्मात्-भूयः-न जायते) जिस से फिर उत्पन्न नहीं होता है ॥८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(यः-तु विज्ञानसारथिः मनः प्रग्रहवान् नरः) जो तो 'अपने शरीररथ का' बुद्धिसारथि वाला मनरूप लगामवाला

मनुष्य है (सः-अध्वनः पारम्-आप्नोति) वह मार्ग के पार को प्राप्त करता है (विष्णोः-तत् परमं पदम्) जो कि विष्णु व्यापक परमेश्वर का परमपद है ॥६॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियेभ्यः परा हि-अर्थाः) इन्द्रियों से परे अर्थात् सूक्ष्म गन्ध आदि तन्मात्राएं--इन्द्रियशक्तियां हैं (च) और (अर्थेभ्यः परं मनः) गन्ध आदि तन्मात्राओं–इन्द्रियशक्तियों से परे मन है (मनसः-तु परा बुद्धिः) मन से परे बुद्धि है (बुद्धेः परः महान्-आत्मा) बुद्धि से परे महान् आत्मा–महत्तत्त्व और पिण्ड में चित्त है ॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

अन्वयार्थ—(महतः परम्-अव्यक्तम्) महत्तत्त्व से परे अव्यक्त प्रकृति एवं पिण्ड में चित्त से परे अहङ्कार है (अव्यक्तात् परः पुरुषः) अव्यक्त प्रकृति से परे पुरुष अर्थात् परमात्मा एव पिण्ड में अहङ्कार से परे आत्मा है (पुरुषात् परं न किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः) पुरुष अर्थात् परमात्मा एवं पिण्ड में आत्मा से परे कुछ नहीं वह सीमा है वह परली गति है ॥११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(एषः-सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते) यह सारे पदार्थों में छिपा हुआ आत्मा प्रकट नहीं होता है (तु) किन्तु (सूक्ष्मदर्शिभिः सूक्ष्मया-अग्र्यया बुद्ध्या दृश्यते) सूक्ष्मदर्शी योगी जनों द्वारा सूक्ष्म अर्थात् ऊंची बुद्धि से देखा जाता है ॥१२॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१॥

अन्वयार्थ—(प्राज्ञः वाङ् मनसि यच्छेत) ज्ञानवान् मनुष्य वाणी को मन में नियन्त्रित करे (तत्-ज्ञाने आत्मनि यच्छेत्) उस मन को ज्ञान आत्मा अर्थात् बुद्धि में नियन्त्रित करे (ज्ञानं महति-आत्मनि नियच्छेत्) ज्ञान को महान् आत्मा चित्त में नियन्त्रित करे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(उत्तिष्ठत जाग्रत वरान प्राप्य निबोधत) उठो जागो उत्तमजनों को प्राप्त करके सचेत होओ समझदार बनो (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया) छुरे की धारा तीक्ष्ण दुरतिक्रमणीय है (तत्-दुर्ग पथः कवयः वदन्ति) वह दुर्गमपथ है कवि कहते हैं ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते
॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(अशब्दम्–अस्पर्शम्–अरूपम्–अव्ययम्) ब्रह्म शब्दरहित स्पर्शरहित रूपरहित हेरफेररहित है (तथा) और (यत्-च-अरसम्–अगन्धवत्-च नित्यम्) और जो रसरहित गन्धरहित नित्य है (अनाद्यनन्तं महतः परं तत्–ध्रुवं निचाय्य) अनादि अनन्त महान् से भी परे या महान् है उसका चयन धारण करके (मृत्युमुखात् प्रमुच्यते) मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(मृत्युप्रोक्तं नाचिकेतं सनातनम्–उपाख्यानम्) मृत्यु का कहा हुआ नचिकेतासम्बन्धी—जीवात्मविषयक सनातन—सदा चलते रहने वाले उपाख्यान अर्थात अलङ्कार को (उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते) कहकर सुनकर बुद्धिमान् ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (इमं परमं गुह्यं ब्रह्मसंसदि श्रावयेत्)

इस परम गुह्य रहस्यमय विषय को विद्वत्सभा में सुनावे (वा) या (प्रयतः श्राद्धकाले) मरते हुये के मरणविषयक पश्चात्ताप-रूप सत्यभावनाकाल में सुनावे तो अनन्तता महत्ता को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

द्वितीयाध्याये प्रथमा वल्ली ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुर-मृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(स्वयम्भूः पराञ्चि खानि व्यतृणत्) स्वयम्भू-परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुख खोला है-बनाया है (तस्मात् पराङ् पश्यति न-अन्तरात्मन्) इस से मनुष्य बाहिर की ओर देखता है अन्तरात्मा की ओर नहीं (कश्चित्-धीरः-आवृत्तचक्षुः-अमृतत्वम्-इच्छन्) कोई ध्यानी इन्द्रियों को बन्द करके अमरपन को चाहता हुआ (प्रत्यगात्मानम्-ऐक्षत्) अन्तरात्मा को देखता है ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ —(बालाः पराचः कामान्-अनुयन्ति) अज्ञ जन बाहिरी कामनाओं के पीछे चलते हैं (ते विततस्य मृत्योः पाशं

यन्ति) वे फैले हुए मृत्यु के पाश को प्राप्त होते हैं (अथ धीराः अमृतत्वं विदित्वा-इह-अध्रुवेषु' ध्रुवं नप्रार्थयन्ते) और ध्यानी जन अमरत्व को जानकर इन अनित्यों में नित्य को नहीं समझते ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते,एतद् वै तत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(येन-एतेन-एव) जिस इस ही प्रेरणा से (रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् मैथुनान् विजानाति) गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द मैथुन को प्राणी जानता है (किम्-अत्र परिशिष्यते) और क्या परिशेष रहता है अर्थात कुछ नहीं सभी कुछ उसकी प्रेरणा से जानता है (एतत्--वै तत्) यह ही वह बस जानने योग्य है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(स्वप्नान्तं जागरितान्तं च-उभौ येन-अनुपश्यति) स्वप्नसार और जागरितसार दोनों को जिसकी प्रेरणा से प्राणी अनुभव करता है (महान्तं विभुम्--आत्मानं मत्वा धीरः- न शोचति) उस महान् विभु आत्मा जगदीश्वर को मानकर धीर शोच नहीं करता है ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद् वै तत् ॥५॥

अन्वयार्थ—(यः-इमं मध्वदम्-आत्मानं जीवमन्तिकात्-वेद) जो इस मधु अर्थात् कर्मफल भुगाने वाले विश्वात्मा को जानता है जोकि जीवात्मा का समीपी है (ईशानं भूतभव्यस्य न ततः-विजुगुप्सते) भूत भविष्यत् का स्वामी है पुनः वह दूषित नहीं होता है (एतत्-वै-तत्) बस यही सार है ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत, एतद्वै तत्॥६॥

अन्वयार्थ—(यः-तपसः पूर्वं जातम्-अद्भ्यः पूर्वम्-अजायत) जो तपसे ज्ञान से-ज्ञानवान् जीवात्मा के शरीरभाव से पूर्व प्रसिद्ध है और परमाणुप्रवाह से प्रकृति के प्रथम विकारभाव से भी पूर्व प्रसिद्ध होता है (गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तम्) हृदयगुहा में प्रवेश करके ठहरे हुये को (यः-भूतेभिः-व्यपश्यत) जो उसे अन्य जड़ पदार्थों की विवेचना द्वारा देखता है (एतत्-वै तत्) बस यही ज्ञातव्य सार है ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवत्यदिति र्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभि र्व्यजायत ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(या-अदितिः-देवतामयी प्राणेन सम्भवति) जो अखण्डज्योतिर्मय शक्ति परमात्मसत्ता प्राण से--प्राणनिरोध से-समस्त इन्द्रियवृत्ति निरोध से अन्तरात्मा में प्रवेश करके विराजमान हुई को जो जड़पदार्थों की विवेचना द्वारा समझता है (एतत्-वै तत्) बस यही सार ज्ञान है ॥ ७ ॥

अरण्यो र्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः, एतद्वै
तत् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(अरण्योः-निहितः-जातवेदाः) जैसे* लकड़ियों में ज्वाला छिपी है (गर्भः-इव सुभृतः-गर्भिणीभिः) या जैसे गर्भवतियों द्वारा गर्भ धारित हो छिपा हुआ होता है ऐसे (अग्निः) सर्वज्ञ परमात्मा सबमें छिपा हुआ है वह (जागृवद्भिः हविष्मद्भिः-मनुष्येभिः) जागरूक तथा आत्मसमर्पणरूप हवि देनेवाले मनुष्यों द्वारा (दिवे दिवे ईड्यः) प्रतिदिन स्तुति करने योग्य है (एत्-वै तत्) यह एक रहस्य की बात है ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥९॥

अन्वयार्थ—(यतः-च सूर्यः-उदेति यत्र च-अस्तं गच्छति) तथा जहां से सूर्य उदय होता है और जहां अस्त होजाता है (तं सर्वे देवाः-अर्पिताः) उसको सब देव अग्नि वायु आदि आश्रित किये हुये हैं (तत्-उ कः-चन न अत्येति) उसी को कोई भी अतिक्रमण नहीं करसकता है ॥ ९ ॥

---

* यहां लुप्तोपमालङ्कार है ।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(यत्-एव-इह) जो ही ब्रह्म इस जगत् में द्रष्टव्य है (तत्-अमुत्र) वह मोक्ष में है (यत्-अमुत्र) जो मोक्ष में ब्रह्म अनुभवनीय है (तत्-अनु-इह) वह पुनः इस जगत् में है (सः-मृत्योः-मृत्युम्-आप्नोति) वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है (यः-इह-नाना इव पश्यति) जो इस ब्रह्म के विषय में नाना जैसा देखता है 'नानापन जड़पदार्थों का धर्म है' परन्तु वह ब्रह्म नाना जड़ पदार्थों में एक रूप से व्यापक रहता है ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥११॥

अन्वयार्थ—(मनसा,एव-इदम्-आप्तव्यम्)मन से ही यह अनुभव करना चाहिये कि (इह किञ्चन नाना न-अस्ति) इस ब्रह्म विषय में नानापन नहीं है किन्तु वह एकरस और अखण्ड विभुरूप है (सः-मृत्योः-मृत्युं गच्छति) वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता है (यः-इह नाना-इव पश्यति) जो इस ब्रह्मविषय में नाना जैसा जड़ पदार्थों की खण्डता को देखता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वै तत्॥१२॥

अन्वयार्थ—(भूतभव्यस्य-ईशानः पुरुषः) भूत भविष्य-भूत

से भविष्य पर्यन्त का स्वामी पूर्ण परमेश्वर (आत्मनि-मध्ये) जीवात्मा में (अङ्गुष्ठमात्रः- तिष्ठति) अङ्गुष्ठपरिमाण होकर विराजमान है (ततः-न विजुगुप्सते) जब यह निश्चय हो जाता है तो मनुष्य निन्दित नहीं होता है (एतत्-वै तत्) यही वह सिद्धान्त की बात है ।।१२।।

विशेष—शरीर एक यन्त्र (मशीन) है जैसे यन्त्र के चलने में तीन कारण हैं—एक मूलस्थान (मोटर), मूलस्थान में चालन-शक्ति (विद्युत्) और चालक द्रष्टा (ड्राइवर) होता है एवं शरीरयन्त्र के ये तीन--मूलस्थानरूप हृदय, मूलस्थान में चालन-शक्ति विद्युद्रूप मन और चालक द्रष्टा आत्मा अर्थात् जीवात्मा है। कृत्रिम यन्त्र (मशीन) का चालक ड्राइवर यन्त्र से सर्वथा अलग अपनी सत्ता रखता है कारण कि पृथक् शरीरधारी है। फिर भी उसका सामान्य ध्यान तो सारी मशीन पर होता है परन्तु विशेष ध्यान उसका मूलस्थान में रहता है जहां कि विद्युत् निहित (फिट्) है क्योंकि उसके ठीक रहने से मशीन ठीक चलती है। थोड़ी देर के लिए मान लें मशीन के ड्राइवर का पृथक् शरीर न हो तो उस ड्राइबर का स्थान कहां होगा ? यह कहना पड़ेगा सामान्य रूप से सारी मशीन में और विशेष रूप से मूलस्थान (मोटर) में है जहां कि विद्युत् फिट् है। बस यही बात शरीर यन्त्र में घटती है शरीरयन्त्र का चालक आत्मा सामान्यरूप से या शक्तिरूप से तो सारे शरीर में है परन्तु ध्यानविशेष की दृष्टि से या चेतनारूप से मूलस्थान हृदय में

है जहां कि चिद्‌ द्रूप मन है। हृदय अङ्गुष्ठमात्र है अतः आत्मा भी अङ्गुष्ठमात्र कहा जाता है, जब मन के साथ आत्मा का स्थान हृदय हुआ तब परमात्मा का चिन्तन ध्यान साक्षात् भी उसी अङ्गुष्ठमात्र हृदय में हो सकने से परमात्मा को भी अङ्गुष्ठमात्र अनुभूतदृष्टि के कारण कहा गया है ॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(भूतभव्यस्य-ईशान-अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः) भूत से भविष्य का स्वामी वह अङ्गुष्ठमात्र पूर्ण परमात्मा (अधूमकः-ज्योतिः-इव) निर्धूम ज्योति के समान शुभ्र निर्मल कान्तिमान् है (सः-एव-अद्य सः—उ श्वः) वह ही आज साक्षात्करणीय है वह ही कल साक्षात्करणीय है (एतत्-वै तत्) बस यह ही मर्म की बात है ॥१३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥१४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (पर्वतेषु वृष्टम्-उदकम्) पर्वतों में बरसा हुआ जल (दुर्गे विधावति) दुर्गमनीय स्थान—घाटी घाटी में विविध गति से चलता है—बिखर बिखर कर चलता रहता है (एवम्) इसी प्रकार मनुष्य (पृथक् धर्मान् पश्यन्) अलग अलग धर्मों को देखता हुआ—'एक रस अमर परमात्मा को न देखकर' (तान् एव-अनुविधावति) उन्हीं के पीछे विविध गति करता रहता है ॥१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुने विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

अन्वयार्थ—(गौतम) हे गौतम! (यथा) जैसे (शुद्धम्-उदकम्) शुद्ध जल (शुद्धे-आसिक्तम्) शुद्ध स्थल निर्मल स्थल में गिरा हुआ तादृक्-एव भवति) वैसा ही रहता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः-मुनेः-आत्मा भवति) विज्ञानी मुनि—निर्दोष ध्यानी का आत्मा वैसा ही बना रहता है ॥१५॥

अथ पञ्चमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते एतद्वै तत् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अवक्रचेतसः-अजस्य) सरल चित्त वाले अजन्मा का (एकादशद्वारं पुरम्) ग्यारह द्वार वाले पुर 'पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां और मन ये ग्यारह द्वार अर्थात् कार्यसाधक जिसके हैं ऐसे शरीररूप नगर' को (अनुष्ठाय) यथार्थ सेवन करके (विमुच्यते) मनुष्य विमुक्त हो जाता है (विमुक्तः-च न शोचति) और विमुक्त हुआ शोच नहीं करता है। यही सिद्धान्त की बात है ॥१॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(हंसः शुचिषत्) पवित्र विषय एवं जाज्वल्यमान

प्रकाशमान द्युलोक की ओर जाने वाला होने से यह आत्मा हंस है (वसुः-अन्तरिक्षसत्) आकाश में पहुँच रखने वाला होने से वसु है (होता वेदिषत्) विश्व के वेदिस्वरूप पृथिवी पर रहने वाला होने से होता (अतिथिः-दुरोणसत्) शरीररूप घर में आने से अतिथि है (नृषत्) मनुष्य रूप में आता है (वरसत्) देवरूप में आता है (ऋतसत्) सत्य का सेवी है (व्योमसत्) परम व्यापक ब्रह्म को प्राप्त होता (अब्जाः) जल में उत्पन्न होता है (गोजाः) भूमि में उत्पन्न होता है (ऋतजाः) सत्य में उत्पन्न होता है (अद्रिजाः) पर्वतों में जन्म लेने वाला है (ऋतम्बृहत्) सत्य को बढ़ाने वाला है ॥२॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमसीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(प्राणम्-ऊर्ध्वम्-उन्नयति) प्राण को उपर लेता है (अपानं प्रत्यग्-अस्यति) अपान को उसके उलटा फेंकता है (मध्ये वामनम्-आसीनं विश्वे देवाः-उपासते) उस मध्य में रहने वाले वामन--सेवनीय आत्मा को सारी इन्द्रियां आश्रित रहती हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अस्य शरीरस्थस्य देहिनः) इस वामन रूप शरीरस्थ देही--आत्मा के (विस्रंसमानस्य) शरीर में न रहना

चाहते हुए (देहात्-विमुच्यमानस्य) देह से विमुक्त होते हुए का (किम्-अत्र परिशिष्यते, एतद् वै तत्) क्या यहां शेष रहता है? कुछ नहीं यह एक तत्त्व की बात है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(कः-चन मर्त्यः) कोई प्राणी (न प्राणेन न-अपानेन जीवति) न प्राण से न अपान से जीवित रहता है (इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्-एतौ-उपाश्रितौ) अन्य से ही जीवित रहते हैं जिसके आश्रय में ये दोनों आश्रित रहते हैं ॥ ५ ॥

हन्त त इदम्प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(हन्त गौतम !) हे दयनीय गौतम नचिकेता ! (ते) तेरे लिये (इदं गुह्यं सनातनं ब्रह्म) इस गोपनीय या सूक्ष्म सनातन ब्रह्म का (प्रवक्ष्यामि) प्रवचन करूंगा (यथा च) जिस प्रकार (मरणं प्राप्य) मरण प्राप्त करके (आत्मा भवति) आत्मा होजाता है-केवल या मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(अन्ये देहिनः) कुछ जीव (यथाकर्म यथा श्रुतम्) जैसा कर्म जैसा ज्ञान (शरीरत्वाय) शरीरधारण करने के लिये (योनिं प्रपद्यन्ते) मनुष्यपशु पक्षीरूप योनि को प्राप्त होते

हैं (अन्ये) कुछ जीव (स्थाणुम्-अनुसंयन्ति) स्थावर में चले जाते हैं ॥ ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते, तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(यः-एषः-पुरुषः) जो यह पूर्ण परमात्मा (कामं कामं निर्मिमाणः) अभीष्ट सृष्टि का निर्माण करता हुआ (सुप्तेषु जागर्ति) सोते हुओं में जागता है (तत्-एव शुक्रं तत्-ब्रह्म-तत्-एव-अमृतम्-उच्यते) वह ही प्रकाशमान ब्रह्म है वह ही अमृत कहा जाता है (तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः) उस में सारे लोक रखे हैं (तत्-उ) उसे निश्चय (कः-चन न-अत्येति) कोई अतिक्रमण नहीं करता है (एतत्-वै तत्) यह ही वह जानने योग्य है ॥ ८ ॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥९॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (एकः-अग्निः) एक अग्नि (भुवनं प्रविष्टः) विश्व में प्रविष्ट होकर (रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव) वस्तु वस्तु का रूपदेने वाला—व्यक्त करने वाला है (तथा) उसी प्रकार (एकः सर्वभूतान्तरात्मा) एक सब भूतों में रहने वाला परमात्मा (रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च) वस्तु वस्तु को रूपदेने वाला—व्यक्त करने वाला और उस से बाहिर भी है॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (एकः-वायुः) एक वायु (भुवनं प्रविष्टः) विश्व में प्रविष्ट होकर (रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव) वस्तु वस्तु का रूप देने वाला—व्यक्त करने वाला है (तथा) उसी प्रकार (एकः सर्वभूतान्तरात्मा) पूर्ववत् ॥१०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (सर्वलोकस्य चक्षुः सूर्यः) समस्त संसार का चक्षुरूप सूर्य (चाक्षुषैः-बाह्य दोषैः-न लिप्यते) नेत्रसम्बन्धी बाहिरी दोषों से लिप्त नहीं होता (तथा) तैसे (एकः सर्वभूतान्तरात्मा) एक सर्वभूतों में रहने वाला परमात्मा (लोकदुःखेन बाह्यः-न लिप्यते) संसार के दुःख से लिप्त दूषित नहीं होता, कारण कि वह इन से परे है ॥११॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(यः सर्वभूतान्तरात्मा) जो सर्वभूतों में रहने वाला परमात्मा (एकः-वशी) एक नियन्ता (एकं रूपं बहुधा करोति) एक प्रकृति को बहुत प्रकार से जो रूपविकृत कर देता

है (तम्-आत्मस्थम्) उसे आत्मस्थ (ये धीराः-अनुपश्यन्ति) जो ध्यानी देखते हैं (तेषां शाश्वतं सुखं न-इतरेषाम्) उनका स्थिर सुख है दूसरों का नहीं ॥१२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(यः-नित्यः-नित्यानाम्) जो नित्यों का नित्य है—नित्यों का आधार है (चेतनानां चेतनः) चेतनों का भी चेतन है—चेतनों का भी साक्षी है (तम्-आत्मस्थम्) उसे आत्मस्थ (ये धीराः-अनुपश्यन्ति) जो ध्यानी देखते हैं (तेषां शाश्वती शान्तिः) उनके प्रति स्थिर शान्ति है (न-इतरेषाम्) दूसरों को नहीं ॥१३॥

**तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥**

अन्वयार्थ—(तत्-एतत्-इति) उस इस को (अनिर्देश्यं परमं सुखं मन्यन्ते) अकथनीय परम सुख मानते हैं (कथं नु तत्-विजानीयाम्) कैसे उसे जानूं (किम् उ भाति विभाति वा) क्या ही स्वयं भासित है या प्रतिभासित होता है ॥१४॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा

सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उस परमात्मा में (न सूर्यः-भाति) न सूर्य प्रकाश करता है (न चन्द्रतारकम्) न चन्द्र तारे (न इमाः-विद्युतः-भान्ति कुतः-अयम्-अग्निः) न विद्युतें प्रकाश करती हैं कैसे यह अग्नि (तम्-एव भान्तं सर्वम्-अनुभाति) सब उसी प्रकाशमान होते हुए के पीछे प्रकाशमान होता है (तस्य भासा-इदं सर्वं विभाति) उसकी भासा से यह सब प्रतिभासित होता है ॥१५॥

अथ षष्ठी वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकाः-
श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥१॥

अन्वयार्थ—(ऊर्ध्वमूलः-अवाक्शाखः) ऊपरमूल वाला नीचे शाखा वाला (एषः सनातनः-अश्वत्थः) यह संसाररूप सनातन अश्वत्थ वृक्ष है उस में मूलरूप (तत्-एव शुक्रं तत् ब्रह्म तत्-एव अमृतम्-उच्यते) वह ही शुभ्र ब्रह्म है वही अमृत कहा जाता है (तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः) उस में सबलोक आश्रित हैं उसे कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता है (एतत्-वै तत्) यह सत्य सिद्धान्त है ॥१६॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ—(इदं यत् किञ्च सर्वं निःसृतं जगत्) यह जो कुछ भी सब उत्पन्न जगत् है वह (प्राणे-एजति) प्राणस्वरूप परमात्मा + के अन्दर गति करता है (महद्-भयम्-उद्यतं वज्रम्) वह प्राणस्वरूप परमात्मा महान् भय है उठा हुआ वज्र है (ये एतत्- विदुः) इसे जो जानते हैं (ते-अमृताः-भवन्ति) वे अमृत हो जाते हैं ॥३॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्यु र्धावति पञ्चमः ॥३॥

अन्वयार्थ—(अस्य भयात्-अग्निः-तपति) इस परमात्मा के भय से अग्नि तपती है (भयात् सूर्यः-तपति) इसके भय से सूर्य तपता है (भयात् इन्द्रः-च वायुः-च) इसके भय से विद्युत् और वायु तथा (पञ्चमः-मृत्युः-धावति) पांचवां मृत्यु दौड़ता है ॥३॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

अन्वयार्थ—(शरीरस्य विस्रसः प्राक्) शरीर के विनाश या त्याग से पूर्व (इह चेत्-बोद्धुम्-अशकत्) इस जीवन में यदि उस परमात्मा को जानसका तो ठीक है, अन्यथा (सर्गेषु लोकेषु

+ परमात्मा प्राण है वेद में कहा है—"प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे" (अथर्व० ११।४।१) जिसके वश में सब जगत् है ।

शरीरत्वाय कल्पते) सर्गों में भिन्न भिन्न लोकों में शरीरधारण के लिये सम्पन्न होता है ॥४॥

यथाऽऽदर्शे तथा ऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

अन्वयार्थ—(यथा-आदर्शे तथा-आत्मनि) जैसे दर्पण में ज्यों का त्यों स्वरूप दीखता है वैसा आत्मता में होता है (यथा स्वप्ने तथा पितृलोके) जैसे स्वप्न में तथा पितृलोक अर्थात् चन्द्र आदि लोक में (यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्व-लोके) जैसे जलों में चलस्वरूप दीखता है वैसा सूर्यलोक में (छायातपयोः-इव ब्रह्मलोके) छाया और आतप की भांति परस्पर मिले हुए ब्रह्मलोक में जीवात्मा और परमात्मा हैं ॥५॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियाणां पृथक्-भावम्) इन्द्रियों के अलग अलग उत्पत्तिकारण (च) और (उदयास्तमयौ यत्) उत्पत्ति तथा नाश को (पृथक् उत्पद्यमानानाम्) पृथक् उत्पन्न होते हुओं के क्रम को (मत्वा) जानकर (धीरः-न शोचति) ध्यानी शोच नहीं करता है ॥६॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतो ऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियेभ्यः परं मनः) इन्द्रियों के परे मन (मनसः-उत्तमं सत्त्वम्) मन से परे 'व्यष्टि में' बुद्धि 'समष्टि में' अहङ्कार विकार है (सत्त्वात्-अधि महान्-आत्मा) सत्त्व से परे महान् आत्मा व्यष्टि में 'चित्त' 'समष्टि में' महत्तत्त्व विकार (महतः-उत्तमम्) महान् आत्मा से अव्यक्त व्यष्टि में अहंकार 'समष्टि में' कारण प्रकृति है ॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्च गच्छति ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(अव्यक्तात्-तु परः पुरुषः) अव्यक्त कारण प्रकृति से परे पूर्ण परमात्मा (व्यापकः-अलिङ्गः-एव च) व्यापक अलिङ्ग निर्लेप है (यत्-ज्ञात्वा) जिसे जानकर (जन्तुः-मुच्यते) जीव मुक्त होजाता है (च) और (अमृतत्वं गच्छति) अमरपन को प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

अन्वयार्थ—(अस्य रूपं सन्दृशे न तिष्ठति) इसका रूप-प्रतिविम्ब साधन-प्रतिविम्ब आने वाले पदार्थ में नहीं ठहरता है (कः-चन-एनं न चक्षुषा पश्यति) कोई इसे न आंख से देखता है (हृदा मनीषा मनसा-अभिक्लृप्तः) हृदय से आन्तरिक बुद्धि से मन से साक्षात् किया जाने वाला है (ये एतत्-विदुः) जो इसे जानते हैं (ते अमृताः-भवन्ति) वे अमृत हो जाते हैं ॥९॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(यदा पञ्च ज्ञानानि) जब पांच ज्ञानेन्द्रियां (मनसा सह-अवतिष्ठन्ते) मन के साथ अवस्थित होजाती हैं (बुद्धिः-च न विचेष्टते) और बुद्धि विविध चेष्टा नहीं करती है (तां परमां गतिम्--आहुः) उसे परमा गति कहते हैं॥ १०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(तां योगम्-इति मन्यन्ते) उसे योग मानते हैं (स्थिराम्-इन्द्रियधारणाम्) वह स्थिर इन्द्रियधारणा है (अप्रमत्तः-तदा भवति) तब ध्यानी अप्रमत्त होजाता है (योगः-हि प्रभवाप्ययौ) योग प्रभव और अप्यय है—उत्पत्ति और लय का साधन है--इस से ध्यानी उत्कृष्टगुणों की अपने में उत्पत्ति और अवगुणों का लय करसकता है ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(न-एव वाचा न मनसा न चक्षुषा प्राप्तुं शक्यः) न ही वाणी से न मन से न नेत्र से प्राप्त करनेयोग्य है (अस्ति-इति ब्रुवतः) है ऐसा कहते हुये का (अन्यत्र कथं तत्-उपलभ्यते) अन्यत्र कैसे वह उपलब्ध होता है ॥ १२ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

अन्वयार्थ—(उभयोः--च) और दोनों में परमात्मा को मानने और जानने वाले दोनों में (तत्त्वभावेन) वास्तविक रूप से परमात्मा का मानना या जानना (अस्ति--इति--उपलब्धव्यः) 'है' ऐसा साक्षात् प्राप्त करना योग्य स्वरूप है (अस्ति-इति--उपलब्धस्य) 'है' ऐसा प्राप्त किये हुए का (तत्त्वभावः प्रसीदति) वास्तविक भाव विकसित होता है ॥१३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

अन्वयार्थ—(यदा सर्वे कामाः–ये--अस्य हृदि श्रिताः प्रमुच्यन्ते) जब सारी कामनाएं जो इसके हृदय में रखी हैं वे छूट जाती हैं (अथ मर्त्यः–अमृतः–भवति) तो मनुष्य अमृत हो जाता है (अत्र ब्रह्म समश्नुते) इस अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥१४॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते अस्य हृदयस्य ये–इह–ग्रन्थयः (जब सारी इसके हृदय की ग्रन्थियां छिन्न भिन्न हो जाती हैं (अथ मर्त्यः–अमृतः भवति) तो मनुष्य अमर हो जाता है (एतावत्--अनुशासनम्) इतना अनुगत शिक्षण है ॥१५॥

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासाम्मूर्द्धानमभि निःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

अन्वयार्थ—(हृदयस्य शतं च-एका च नाड्यः) हृदय की एकसो एक नाडियां हैं (तासाम्-एका मूर्धानम्--अभिनिःसृता) उनमें से एक मूर्धा की ओर चली गई है (तया--उर्ध्वम्--आयन् अमृतत्वम्--एति) उस से ऊपर आता हुआ अमृतत्व को प्राप्त होता है (अन्याः--उत्क्रमणे विष्वङ् भवन्ति) अन्य नाडियां उत्क्रमण में बिखराने वाली होती हैं ॥१६॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अङ्गुष्ठमात्रः-अन्तरात्मा पुरुषः) अन्तरात्मा जीवात्मा पुरुष अङ्गुष्ठमात्र (सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः) सदा उत्पन्न प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट है (तं स्वात्-शरीरात्-मुञ्जात्-इव-इषीकां प्रवृहेत्) उसे अपने शरीर से मूञ्ज से सलाई की भांति धैर्य से निकाले (तं शुक्रम्-अमृतं विद्यात् तं शुक्रम्-अमृतंविद्यात्) उसे शुभ्र अमृत जाने उसे शुभ्र अमृत जाने ॥ १७ ॥

ग्रन्थकार की उक्ति—

मृत्युप्रोक्तान्नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो

विद्ध्यात्ममेव ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अथ नचिकेत:-मृत्युप्रोक्ताम्-एतां विद्याम्) पुनः नचिकेता मृत्युप्रोक्त इस विद्या को (कृत्स्नं योगविधिं च लब्ध्वा) सम्पूर्ण योगविधि को प्राप्त करके (ब्रह्मप्राप्त:-विरज:-विमृत्यु:-अभूत्) ब्रह्म को प्राप्त हुआ दोषरहित और मृत्यु से रहित हुआ (अन्य:-अपि य:-एवं-अध्यात्मम्—एव-वित्) अन्य भी जो ऐसे अध्यात्म को जानता है वैसा हो जाता है ॥ १८ ॥

॥ कठोपनिषद् समाप्ता ॥

५।७।१९४८ ई०

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

प्राग्वचन

नवीन वेदान्ती जन इस उपनिषद् को अपने अभीष्ट वेदान्त का मूल मानकर अर्थ करते हैं परन्तु हम इसका अर्थ इसकी मौलिकता का अनुसरण करते हुए करेंगे।

१—आचार्य (ग्रन्थकार) की शैली की रक्षा करते हुए अर्थात् मन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा शब्दों के पूर्वापर सामञ्जस्य एवं रचनाशैली का ध्यान रखते हुए।

२—उपनिषदें वेदों की शाखाएं समझी जाती हैं, शाखाएं शाखी (वेदरूप वृक्ष) के अनुकूल होनी चाहिएं अतः वेदानुसारता को भी समक्ष रखा जायगा।

३—इस उपनिषद् में ओम् की व्याख्या है, ओम् उपास्य देव है "ओम् क्रतो स्मर" (यजु० ४०।१६) "ईश्वरप्रणिधानाद्वा, तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग । समाधिपाद। २३, २७, २८) उपासनापद्धति या उपासनामार्ग योग के समन्वय को भी लक्ष्य में रखा जावेगा।

इस प्रकार इन तीन बातों का अनुसरण कर अर्थ, वाक्यार्थ और स्पष्टीकरण किए जायेंगे।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

माण्डूक्योपनिषद्-दीपिका

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

अर्थ–(ओम्–इति–एतत्–अक्षरम्) 'ओम्' यह जो वस्तुरूप है या जिसे 'ओम्' कहते हैं वह अक्षर–न क्षर—न क्षीण होने वाला—गुणकर्मस्वभाव से परिवर्तित न होने वाला एकरस निर्विकार अविनाशी एवं व्यापक[1] चेतन देव है। जैसे कोई कहता है कि 'अग्निरिति प्रज्वलितपदार्थः' अग्नि जो है वह प्रज्वलित पदार्थ है यहां कहने वाले का अभिप्राय है मुख से उच्चरित या स्याही आदि से लिखित अग्नि शब्द जलता हुआ पदार्थ नहीं किन्तु 'अग्नि' जो वस्तुरूप है वह प्रज्वलित पदार्थ है, इसी प्रकार ओम जो वस्तुरूप है वह अक्षर न क्षीण होने वाला अर्थात् सत्यगुणकर्मस्वभाववाला एकरस निर्विकार और व्यापक है न कि मुख से उच्चरित या स्याही आदि से लिखित। जैसे इस उपनिषद् में 'अक्षर' शब्द ब्रह्म के लिये आया है वैसे ही वेद में भी जहां यह 'अक्षर' शब्द है वहां स्पष्ट भेदरूप से

---

[1] "अक्षरं न क्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्" (महाभाष्य) 'अश्—सर' (उणादि)

ही ब्रह्म, जीव और जगत्कारण वर्णित हैं। जैसे "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ (ऋ० १।१६४।३९)अर्थात् 'परम व्यापक अक्षर में सारे अग्नि आदि देव रखे हैं जो उसको नहीं जानता वह ऋग्वेदादि से क्या करेगा। जो उसे जानते हैं वे ही उसमें समागम करते हैं'। यहां अक्षर शब्द से ब्रह्म, देव शब्द से अग्नि आदि जगत्कारण और जो उसे नहीं जानता या जो जानता है ऐसे कथन से ब्रह्म के जानने के अधिकारी जीव का वर्णन है एवं जीव और जगत्कारण से भिन्न अक्षर शब्द से ब्रह्म को बताया है।

(इदं सर्वं तस्य-उपव्याख्यानम्) यह सब विकारात्मक और ज्ञानात्मक जगत् 'विकारात्मक—पृथिवी आदि लोक लोकान्तर[२] और ज्ञानात्मक–वेद सत्य शास्त्र[३] उस ओम् रूपवस्तुका समीपी व्याख्यान अर्थात् उसका यथावत् बोध कराने वाला व्याख्यान है. जैसे किसी कार्यात्मक वस्तु में क्रिया या ज्ञान से उसके बनाने वाले का बोध होता है कि एवंगुणसम्पन्न इसका निर्माता है तथैव यह कार्यरूप जगत् भी इस अपने प्रवर्तक ओम् को भली भांति जनाता है इस कथन से ओम् भिन्न वस्तु है और जगत् भिन्न वस्तु है क्योंकि यह जगत् उस ओम् का उपव्याख्यान कहा गया है। एवं वेद में भी जहां यह भाव दर्शाया

---

[२] "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" (यजु० १७। १९)

[३] "तस्माद्-यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे" (यजु० ३१।२)

है वहां स्पष्ट भेदरूप ही वर्णन है, जैसे "एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः" (यजु० ३१।३) अर्थात् यह सब इस ब्रह्मरूप पुरुष की महिमा और वह पुरुष इस महिमा से महान् है एवं यही अभिप्राय इस उपनिषद् में है, उपव्याख्यान और महिमा दोनों पर्याय हैं वैदिक परिभाषा में महिमा औपनिषद परिभाषा में उपव्याख्यान समझें।

(भूतं भवद्-भविष्यद् इति सर्वम्-ओङ्कारः-एव) भूत, वर्तमान भविष्यत् इन सब कालों से युक्त-भूत आदि सर्वकाल लक्षणसहित—भूत आदि सर्वकालों में स्थिति जिसकी है ऐसा अपने स्वरूप से विराजमान अर्थात् न केवल भूतलक्षण न वर्तमानमात्र न भविष्यद्-लक्षण ही प्रत्युत त्रिकालरूप ओङ्कारात्मक ब्रह्म ही है कारण कि इस परिवर्तनशील जगत् में कोई वस्तु अपते नित्य और स्वतन्त्र व्यापार से सर्वकालस्थ नहीं है यदि भूत में थी अब नहीं है अब है आगे न रहेगी भविष्य में होगी तो अब नहीं है किन्तु परमात्मा ही जीवों को कर्मानुसार सुख दुःख तथा मुक्तों को आनन्द में प्रवृत्त कराता हुआ अपनी एकरस शुद्ध अवस्था से त्रिकालरूप में विराजमान है यहां नवीन वेदान्तियों का जगत् शब्द का अध्याहार करके तीनों कालों में उत्पन्न जगत् को ओम् ब्रह्म बतलाना आचार्य की शैली के विपरीत है आचार्य ने पूर्व कथन 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' में इस सब जगत् को उस की महिमा बतलाया है। अतः यहां तो उसे त्रिकालरूप बताना ध्येय है। जैसे

वेद में कहा है कि "यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥" (अथर्ववेद) अर्थात् वह परमात्मा सब भूत आदि कालों को अपने अधिभूत करके स्थित है। इस वचन के अनुसार उपनिषद् में वर्णन है, वेद में तीन 'च, च, च' शब्दों से तीनों कालों का समुच्चय किया है एक काल की केवलता को हटाने के लिये और उपनिषद् में 'इति सर्वं' शब्द से संग्रह है।

(यत्-च-अन्यत्) और जो कुछ उक्त उपव्याख्यानरूप से पृथक् है 'तदप्योंकार एव, वह भी ओंकार ही है' यह अगला वचन सम्बन्ध रखता है अर्थात् जगत् की अवधि या जगत् की सीमा को उल्लङ्घन करके जो कोई भी वस्तु पृथक् हो सकती है वह भी ओम् [परमात्मा] ही है अन्य पदार्थ नहीं कारण कि अन्य वस्तु में ऐसे सामर्थ्य का अभाव है। आकाश भी सर्व व्यापक कहा जाता है परन्तु पूर्णरूप से नहीं पूर्ण सर्वव्यापक तो परमात्मा ही है जो कि आकाश से भी परे है वेद में कहा भी है "त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" ( ) अर्थात् हे परमात्मन् तू इस आकाश के भी पार में है। ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है "हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! आकाश लोक के पार में तथा भीतर अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान होके (आर्याभिविनय १) एवं वैज्ञानिक रीति से भी यह ही सिद्ध होता

१ अन्यत्र भी वेद में जगत् से बाहिर ब्रह्म का ही अवधारण किया है, जैसे "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" (यजु० ४०।५) अर्थात् वह ब्रह्म इस जगत् के अन्दर है और वह ही इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के बाहिर है।

833

है—अत्यन्त अणुपरिमाण और अत्यन्त महत्परिमाण की वस्तु गोल आकार धारण करती है अत एव छोटे से छोटा कण या जलबिन्दु गोल होता है एवं बड़े से बड़ा पदार्थ गोल होता है। पृथिवीगोल, सूर्यगोल है ही और जगत् जब प्रकृतिरूप में चला जायगा तब वह प्रकृति अत्यन्त महत्परिमाण में एक-रूप हो जाने से गोलाकार ही रहेगी यह सिद्ध है पुनः "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः" (तैत्तिरीयोपनिषद्) उस गोलाकार प्रकृतिरूप से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु आदि, इसके लिए देखो निम्न चित्रः—
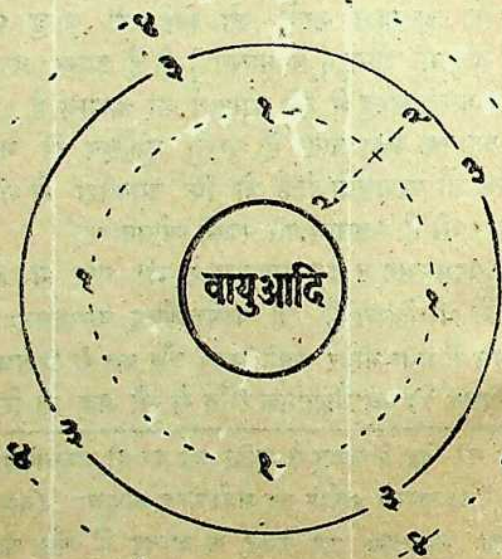
यहां चित्र में मध्य गोलाकार वायु आदि है और उसके आस पास बड़े गोलाकार के भीतर आकाश है जो कि अवकाश-रूप में उत्पन्न हुआ है "निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्" (वैशेषिक) जहां से निकले या जहां प्रवेश करे वह आकाश है, बस जब यह है तो देखो चित्र में आकाश यह १ ही है और वह यहां ३ तक (परिधि तक) कारण कि यहां २ से ही परमाणु निकले हैं और प्रलयकाल में उनके प्रवेश होने की परम अवधि भी यहां ३ तक ही है तो बाहिर यह ४ क्या वस्तु है? आकाश तो यह है ही नहीं कारण कि यहां से न तो परमाणु निकले हैं और न ही प्रलय में यहां तक प्रवेश कर सकते हैं अतः यह ब्रह्म ही है। इस प्रकार जगत् से बाहिर ब्रह्म ही है, वास्तव में आकाश भी जगत् के अन्तर्गत ही है गतिरूप क्रिया से यह निष्पन्न होता है और गति भी यहां २ से ही आरम्भ होती है एवं आकाश जगत् से बाहिर नहीं है।

(त्रिकालातीतं तदप्योङ्कारः--एव) तीनों कालों को जो उल्लङ्घन किए हुए है--तीनों कालों की मर्यादा से जो बाहिर है वह भी ओम् ब्रह्म ही है अन्य पदार्थ नहीं क्योंकि काल व्यापार-क्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है क्रिया के होते हुए वर्तमान काल पहिले को भूत आगामी को भविष्यत् काल समझा जाता है सो आकाश से बाहिर क्रिया का आरम्भ नहीं है देखो चित्र में अंक २, अतः वहां कालगति न होने से कालातीत ओम्--ब्रह्म ही है।

आशय—ओम् जो वस्तुरूप है जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं वह एकरस निर्विकार अमर अविनाशी और सर्वव्यापक है यह सारा जगत् उसकी महिमा है वह महिमवान् त्रिकालरूप तथा जगत् से और तीनों कालों से भी भिन्न है। इस प्रकार पूर्वकथन में सगुण और उत्तर कथन में निर्गुण वर्णन किया गया है ॥१॥

सर्वंह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

अर्थ—(एतत् सर्वं हि ब्रह्म) यह ओम् समुदायरूप से या अलग अवयव रूप से 'अ, उ, म्' सब ही ब्रह्म है (अयम्–आत्मा ब्रह्म) यह 'चेतन' वस्तु ब्रह्म है (सः–अयम्–आत्मा-चतुष्पात्) वह यह 'चेतन' वस्तु ब्रह्मात्मा चार अवस्था वाला है।

विशेष—पाद शब्द का पैर ही अर्थ नहीं है किन्तु अन्य अर्थ भी हैं। मूर्त जड वस्तुओं में 'पाद' शब्द अंशार्थ चेतन-मूर्त (चेतनवान् मूर्त) में अङ्गार्थ अमूर्त जड में उपाधि-अर्थ और अमूर्त चेतन में अवस्थार्थ में आता है 'पद=गतौ' पद धातु गति अर्थ में है और गति के ज्ञान, गमन, प्राप्ति अर्थ हैं अतः उक्त चारों अर्थों में प्रयुक्त होता है उदाहरण निम्न प्रकार है—

१—मूर्तजड वस्तुओं में अंशार्थ पाद शब्द प्रयुक्त होता है, प्राप्ति अर्थ को लेकर। प्राप्त होता है यथावस्थित वस्तु जिसके द्वारा वह पाद उसका अंश, जैसे चतुष्पात् पर्यङ्क आदि अर्थात्

पलङ्ग चारपाओं का फलिका चारपाए की तिपाई तीन पाए की आदि आदि। यहां पाद शब्द आधारभूत अश के लिये आया है। ग्रन्थ में पाद शब्द अंशार्थ में जैसे अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय का चतुर्थ पाद। क्वचित् क्वचित् चतुर्थ अंश का वाचक जैसे 'सपादप्रस्थं दुग्धम' पावसहित सेर दूध, यहां चतुर्थ अंश में आया है। योगदर्शन का साधनपाद, यहां चतुर्थांश में आया है।

२—मूर्तचेतन या चेतनवान् मूर्त में अङ्गार्थ पाद शब्द गति को लक्ष्य करके प्रयुक्त है यह प्रसिद्ध है ही जैसे 'द्विपाद् मनुष्यः-पक्षी च' "चतुष्पादो गर्भिण्या" (अष्टाध्यायी २।१।७१) दो पाँव का मनुष्य और पक्षी चार पाँव का पशु इत्यादि।

३—अमूर्तजड में पाद शब्द उपाधि अर्थवाला यहां ज्ञान बाहिरी ज्ञान जो भान होता है उसे लक्ष्य करके प्रयुक्त होता है जैसे 'अद्यश्वीन उष्णपाद् वायुश्चलति' आजकल उष्णपांव वाला वायु चल रहा है उष्ण उपाधि अर्थात् गौण धर्म वाला चल रहा है। वायु का स्पर्श वास्तविक रूप उष्णता और शीतता से रहित है पर अग्नि और जल के सूक्ष्म परमाणुओं को साथ लेचलने से वायु उष्णपाद् और शीतपाद् कहा जाता है।

४—अमूर्त चेतन में पाद शब्द अवस्थार्थ होता है यहां ज्ञान अर्थ अभीष्ट है, जाना जाता है अनुभव किया जाता है साक्षात्कार किया जाता है वह पाद कहलाता है। जो कि इस स्थान पर 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' वचन में है, आत्मा

[ब्रह्मात्मा] अमूर्त और चेतन है इस में अन्य अर्थ घट नहीं सकता है अतः यहां पाद शब्द अवस्था का वाचक है।

उपनिषद् के प्रस्तुत वचन 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' में पाद शब्द अङ्गार्थ में नहीं है यह बात भूमिका में बतलाए प्रस्तुत उपनिषद् भाष्य के आधाररूप ईश्वरानुकूल्य, आचार्यशैली-रक्षा और वेदानुसारता से भी सिद्ध होती है।

ईश्वरानुकूल्य—

ईश्वर सर्वव्यापक और अजन्मा है उसमें अङ्गरूप पाद-लक्षणा नहीं घटती है यदि ईश्वर में अङ्गरूप पाद लक्षणा हो तो वह काल से ऊर्ध्व एवं सर्वव्यापक और अजन्मा न हो सकेगा कारण कि कोई भी अङ्गवान् काल से विनष्ट होने वाला एक देशी और जन्म लेने वाला ही होता है।

आचार्यशैलीरक्षा—

आचार्य ने तृतीयपाद को सर्वेश्वर सर्वज्ञ आदि नामों से कहा है और चतुर्थपाद को तो शान्त केवल आत्मतामें वर्तमान हुआ बतलाया है, अङ्गरूप पाद सर्वेश्वर सर्वज्ञ शान्त केवल आत्मा में नहीं होता है अतः आचार्यशैली भी स्पष्ट जनाती है कि यहां पाद शब्द अङ्गरूप नहीं है।

वेदानुसार—

वेद में ईश्वर को 'अकाय' अर्थात् शरीररहित कहा है, जब शरीर ही नहीं तब पाद शब्द अङ्गार्थ में हो ही नहीं सकता। अन्यत्र उपनिषद् में भी यह बात स्पष्ट करदी गई है "अपाणिपादो

जवनो ग्रहीता" (श्वेताश्वतरोप० ३।१९) ईश्वर के अङ्गरूप हाथ-पांव नहीं है। कदाचित् कोई कहने लगे कि वेद में ईश्वर में अङ्गरूपपाद-पांव का भी वर्णन मिलता है जैसे "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्" (ऋ० १०।८१।३) यहां परमेश्वर के सब ओर नेत्र सब ओर मुख सब ओर बाहु सब ओर पांव बतलाए हैं। यह भ्रम है कि इस मन्त्र में ये नेत्र मुख बाहु पांव स्थूल अङ्गरूप हैं जब कि पूर्व में हमने वेद से बतलाया कि ईश्वर 'अकाय' है फिर अङ्गरूप में नेत्र मुख बाहु पांव कैसे होसकते हैं और सब ओर नेत्र साथ ही सब ओर मुख सब ओर बाहु पुनः सब ओर पांव कैसे सम्भव है। क्या जहां पांव है वहां आंख और जहां आंख वहां पांव भी होसकता है फिर सारे अङ्ग सब जगह यह बात अङ्गरूप से कथन नहीं की गई है शक्तिरूप से की गई है वह उन उन अङ्गों का काम करने की शक्ति रखता है जैसा पूर्व कहे एक उपनिषद्वचन से भी बतलाया है वह पांवरहित है पर चलने वाला है हाथ से रहित है पर पकड़ने वाला है अङ्गरूप से ईश्वर में सब ओर पांव आदि नहीं हो सकते यह बात साथ दिए चित्र से भी समझें--

(१) इस चित्र में पांच आंख और पांच पांव हैं।

(२) इसमें पन्द्रह आंखें और पन्द्रह पांव हैं परन्तु ऊपर आधे भाग में पांच-पांच और नीचे आधे-आधे भाग में पन्द्रह-पन्द्रह हैं।

(३) यहां बहुत आंखें और पांव हैं परन्तु कुछ पता नहीं चलता।

(४) यहां तो सब ओर आंखें और सब ओर पांव हैं परन्तु शून्यमात्र ही लगाता है। जबकि एक ही अङ्ग के सब ओर होने में कोई भी अङ्ग लक्षण नहीं रहती तब जहां आंख बाहु मुख पांव ये सब ओर हों कहीं मुख में पांव और पांव में मुख एवं पांव में नेत्र और नेत्रमें पांव एवं भुजा में आंख आदि-आदि कैसे अङ्गलक्षणा विद्यमान रह सकती? नहीं! नहीं!! हां शक्तिरूप से है अङ्गरूप से ईश्वर में पांव नहीं हैं यही सिद्ध होता है॥ २॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

अर्थ—(जागरितस्थानः) जागरितस्थान जिसका है वह जागरितस्थानी या जागरितप्रवृत्तिवाला (बहिःप्रज्ञः) बाहिर प्रज्ञा जिसकी है—व्यक्त कार्यरूप जगत् में बुद्धि रखने वाला (सप्ताङ्गः) सात अङ्ग जिसके हैं वह सात अङ्गवाला (एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस प्रमुख मुखवत् प्रधानशक्तियां जिसकी हैं—उन्नीसप्रमुखशक्तिवाला (स्थूलभुक्) स्थूलजगत् को पालने वाला[1]—स्थूलजगत् का पालक रक्षक (वैश्वानरः) सबका

[1] भुज पालनाभ्यवहारयोः" (रुधादि) भुज धातु पालने और भोगने अर्थ में है। यहां यह पालन अर्थ में है भोगने अर्थ में नहीं कारण कि वेद में ईश्वर को न भोगने वाला कहा है "द्वा सुपर्णा सयुजा

नायक नियन्ता चालक (प्रथमः पादः) वह ऐसे लक्षण युक्त प्रथमावस्थावाला या प्रथमप्रकार से समझाजानेवाला या प्रथम साक्षात्कार में आने वाला ओङ्कार का वाच्य रूप ब्रह्म है यह एक दर्शन है।

ब्रह्म का ज्ञान करने या कराने में यही प्रथम निश्चय है। शिष्य के सम्मुख गुरु जी गौ आदि कोई खिलौना बनाकर उस से पूछता है कि बच्चा यह खिलौना किसने बनाया? शिष्य कहता है गुरु जी अभी मेरे सम्मुख आपने बनाया है। पुनः गुरु पूछता है तो फिर यह तुम्हारा और मेरा शरीर तथा सूर्य आदि पदार्थ किसने बनाए हैं? तब शिष्य मन में विचार कर कहता है कि हां, इन सब का बनाने वाला है तो सही पर वह कैसा है यह मैं नहीं जानता हूं पुनः गुरु इस 'जागरित स्थानः' मन्त्रानुसार लक्षणों से जनाता है और क्रमशः उच्चसीमा तक ले जाता है। अथवा कोई मननशील तथा कार्य-कर्ता के सम्बन्ध को जानने वाला जन प्रातः सायं जंगल में कहीं एकान्त शान्त स्थान में विराजमान हो विविध जाङ्गलिक पदार्थों नदी पर्वतों तथा उदय और अस्त होते हुए सूर्य एवं अन्य नक्षत्र तारों ग्रह

सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" यहां रूपकालङ्कार से बतलाया है कि जीवात्मा परमात्मारूप दो पक्षी प्रकृति एवं प्राकृतिक जगत् रूप वृक्ष पर बैठे हैं उनमें से जीवात्मा उसके फल को भोगता है और परमात्मा नहीं भोगता है।

सितारों को देख कर मन में निश्चय करता है कि हां है इस जगत् का बनाने वाला परन्तु वह किस अवस्था में है कैसा है यह विचार करने लगता है तो उस जगत्कर्ता जगदीशदेव का प्रथम गुण उसके सामने आता है 'जागरितस्थानः' जागरित-स्थानी—जागरितप्रवृत्तिवाला—जैसा कि मैं किसी कार्य को करता हुआ या किसी को बनाता हुआ होता हूं तो जागरिता-वस्थावाला होता हूं ऐसा ही वह भी है पुनः दूसरा गुण सामने आता है 'बहिःप्रज्ञः' अपने से भिन्न प्रकटीभूत जगत् में बुद्धि जिसकी लगी है ऐसा वह है पश्चात् तीसरा गुण उपस्थित होता है 'सप्ताङ्गः' सात अङ्गों वाला वह है जिस प्रदेश में चेतन वस्तु प्रविष्ट या व्याप्त होकर नियन्ता बन विराजता होता है वह उसका अङ्ग समझा जाता है, जब यह है तो वैदिक शब्दों में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यलोकः हैं ये भू आदि नाम लोक प्रदेश या लोकक्षेत्र या लोकमण्डल हैं जो कि समस्त दृश्य अदृश्य विश्व या खगोल के सप्तस्तर सात परिधिप्रदेश हैं जिन में अनन्त पिण्ड हैं परन्तु भूपरिधि या भूस्तर के समस्त पृथिवीपिण्डों के सात विभाग जातिरूप से हैं। एवं इन भूलोक आदि में ब्रह्म व्यापक होकर इनका नियन्ता है कारण कि यदि ब्रह्म पृथिवीलोक या भूलोक में ही हो तो सूर्य लोक या स्वः-लोक में न हो तो वहां कौन कार्य करे एवं सूर्य लोक या स्वः-लोक में ही हो तो पृथिवीलोक या भूलोक में कौन कार्य करेगा तथा एकदेशी होने से एकदेशीय

उपाधियां भी ब्रह्म को लग जावेंगी अतः अङ्गरूप भू आदि सात लोकस्तरों में व्यापक होकर वह सप्ताङ्ग है। पश्चात् चतुर्थ गुण प्रतीत हो जाता है 'एकोनविंशतिमुखः' उन्नीसमुख-उन्नीसप्रमुखशक्ति वाला है। जैसे मैं कुछ कार्य करता हूँ तो मेरे पांच कर्मेन्द्रियां पांच ज्ञानेन्द्रियां मन बुद्धि चित्त अहङ्कार और पांच स्थूलभूतों से युक्त होकर करता हूँ एवं उस ब्रह्म के भी ये साधन हैं अङ्गरूप से नहीं पर शक्तिरूप से अवश्य हैं, वेद में कहा भी है, "विश्वतचक्षुरुत विश्वतोमुखो मिश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।" (ऋ० १०।८१।३) 'सब ओर आंख वाला, सब ओर मुखवाला सब ओर भुजावाला और सब ओर पैरवाला वह ब्रह्म है'। सब ओर आंख सब ओर मुख सब ओर भुजा सब ओर पैर अङ्गरूप होना असम्भव है। एक ही अङ्ग का सब ओर होना असम्भव है पुनः आंख जहां, वहां पैर भी जहां पैर वहां आंख या हाथ आदि होने की तो कथा ही क्या। स्पष्टीकरण के लिये देखो चित्र संख्या २। पुनः पञ्चम गुण का परिचय होता है 'स्थूलभुक्' स्थूल जगत् का पालक स्थापक है यदि ऐसा न हो तो सब पिण्ड परस्पर टकराकर नष्ट भ्रष्ट हो जावें अन्त में छठा गुण उपलब्ध होता है 'वैश्वानरः' सब का नायक या चालक नेता ड्राईवर की भांति है किस पिण्ड को किस गति से कितने परिधिप्रदेश में चलना है सब गति विधि का नेता वह ब्रह्म है। बस यह है प्रथम प्रकार से समझ में आनेवाला ब्रह्म या ब्रह्म का प्रथमदर्शन या प्रथम साक्षा-

त्कार , गुणों के प्रत्यक्ष से ही गुणी का प्रत्यक्ष समझा जाता है। ब्रह्म के इस प्रथम दर्शन में निमग्नमनवाले की समाधि वितर्कानुगम समाधि कहलाती है ॥३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

अर्थ—(स्वप्नस्थानः) स्वप्नस्थान जिसका हैं—स्वप्नस्थानी स्वप्नप्रवृत्तिवाला—विचारप्रवृत्तिवाला (अन्तःप्रज्ञः) अन्तर्गत सूक्ष्म जगत् में जिसकी बुद्धि लगी है ऐसा वह (सप्ताङ्गः) पूर्ववत् परन्तु सूक्ष्म सप्ताङ्ग वाला (एकोनविंशतिमुखः) पूर्ववत् पर सूक्ष्म उन्नीस प्रमुख शक्ति वाला (प्रविविक्तभुक्) प्रविवेचनगत सूक्ष्म जगत् का पालक संस्थापक (तैजसः) तेजःस्वरूप—बिजुली के समान 'तेजस् ही तैजस है स्वार्थ में अण् प्रत्यय' (द्वितीयः पादः) द्वितीयावस्था वाला—द्वितीय प्रकार से समझा जाने वाला द्वितीय उपाय से साक्षात किया जाने वाला वह ब्रह्मात्मा [ओंकार का वाच्य] है।

ब्रह्मविचार निमग्न जङ्गल में गये हुए मननशील उपासक की बुद्धि ओंकारात्मा ब्रह्मात्मा में आगे गति करती है उसकी विचारधारा आगे बढ़ती है जब कि यह जगत् न बना था इस स्थूलरूप में न था तो यह ब्रह्मात्मा किस अवस्था में था उस समय भूलोक या पृथिवीगोल पर प्राणी और वनस्पति नहीं उत्पन्न हुए थे पृथिवी में उनके उपजाने का स्नेह धर्म अभी नहीं आया था पर्वत भी ठोस बन पृथिवी की परिधि से बाहिर

नहीं आए थे और समुद्ररूप जल का महागर्त भी नहीं प्रकट हुआ था किन्तु पृथिवी लिलबिल मृदु और मेघसमान सूक्ष्म गोल रूप में घूम रहा था एवं सारे आकाशीय पिण्ड इसी प्रकार सूक्ष्म बने हुए थे सूर्य केवल विस्तृत ज्योतिर्मय-मात्र फैला हुआ था उस अवस्था में वह परमात्मा विचारप्रवृत्ति वाला अन्तर्गत सूक्ष्म जगत् में बुद्धि रखने वाला भू आदि सूक्ष्म हुए लोकों को व्याप्त हुआ हुआ, सूक्ष्म रूप उन्नीस प्रमुख शक्ति वाला पञ्च सूक्ष्म भूतों तन्मात्राओं से युक्त शक्तिवाला सूक्ष्म जगत् का पालक संस्थापक तेजः स्वरूप विद्युद्रूप यह द्वितीयावस्थावाला वह ब्रह्मात्मा है। ब्रह्म के इस द्वितीय दर्शन में निमग्न हुए मनवाले की समाधि विचारानुगम समाधि कहलाती है ॥ ४ ॥

> यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते
> न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।
> सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो
> ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

अर्थ—(यत्र) जिस अवस्था में (सुप्तः) सोया हुआ (न कञ्चन कामं कामयते) किसी भी विषय को नहीं चाहता (न कञ्चन स्वप्नं पश्यति) न ही किसी विचार को अनुभव करता है (तत् सुषुप्तम्) वह सुषुप्त अवस्था है। इस प्रकार वह—

(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्तस्थान जिस का है—सुषुप्तस्थानी—सुषुप्तप्रवृत्तिवाला (प्रज्ञानघनः-एव) प्रज्ञा है घनीभूत केन्द्रीभूत

जिसकी ऐसा वह गूढप्रज्ञ (एकीभूतः) अनेक भू आदि एवं पृथिवी आदि लोक 'नाम और रूप को छोड़कर' एक प्रकृति मात्र होगए हैं जिसमें वह एकीभूत अर्थात एकाङ्ग (आनन्द-मयः-हि-आनन्दभुक्) अतिसूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति से बहुल अति-सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति का पालक रक्षक संस्थापक (चेतोमुखः) चेतस्-मनःशक्ति ही मुखवत् प्रमुख शक्ति है जिसकी वह चेतनस्वरूप (प्राज्ञः) ईक्षक या द्रष्टा 'प्रज्ञ ही प्राज्ञ स्वार्थ में अण् प्रत्यय' (तृतीयः पादः) तृतीयावस्थावाला या तृतीय प्रकार से समझा जाने वाला या तृतीय उपाय से साक्षात् होने वाला वह ब्रह्मात्मा [ओङ्कारपद का वाच्य] है॥

पूर्ववत् वही मननशील जङ्गल में स्थित हुआ पुनः विचारता है जबकि यह सूक्ष्म जगत्-पृथिवी आदि सूक्ष्म लोकमात्र भी नहीं बने थे केवल प्रकृति उसके सामने थी तो उस समय ब्रह्म किस अवस्था में था एवं निश्चय करता है कि वह सुषुप्तप्रवृति वाला था अर्थात् न वह किसी पदार्थ के निर्माण की इच्छा करता है और न ही जीवों के उद्धार आदि के निमित्त कुछ विचारता है तथा अनेक पृथिवी आदि लोक एक प्रकृतिमात्र जिसमें होगये अनेक पृथिवी आदि सत्ता से नाम और रूप को छोड़कर एक कारणाख्य प्रकृतिमात्र होकर वर्तते हैं जिसमें एवं वह गूढप्रज्ञ निरतिशयज्ञानस्वरूप और जो अव्यक्त अतिसूक्ष्म कारणाख्य प्रकृति से युक्त उसका पालक या स्थापक, चेतस्-मनःशक्ति जिसकी मुख्य शक्ति है ऐसा वह चेतोमुख और प्राज्ञ-ईक्षक या

द्रष्टा अर्थात् प्रकृति को ईक्षण मात्र से सम्मुखी करता है ऐसा तृतीय अवस्थावाला या तृतीय प्रकार से समझा जाने वाला या तृतीय उपाय से निश्चय होने वाला वह यह ब्रह्मात्मा [ओंकार का वाच्य] है ॥ ५ ॥

विशेष—यहां तीसरे चौथे पांचवें मन्त्र में जागरित स्वप्न सुषुप्त व्यवहारों को देखकर कोई एक भाष्यकार जीवों के प्रति इन अवस्थाओं को लगाते हैं परन्तु ऐसा करना सर्वथा अयुक्त है क्योंकि वैश्वानर आदि शब्द मुख्यतया ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होते हैं जीवों के लिये नहीं तथा आचार्य की शैली के अनुसार भी ब्रह्म ही की ये अवस्थाएं इस उपनिषद् में समझी जाती हैं कारणकि 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' अवस्थाओं का यह उपक्रम वचन है इसमें ओम् को ब्रह्म कहा और ब्रह्मात्मा की उक्त चार अवस्थाएं हैं ऐसा कहा एवं आगे उपसंहार वचन 'सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कार अधिमात्रं पादा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति' में भी यह बात स्पष्ट है उस चार अवस्था वाले ब्रह्मात्मा ओम् को चार अवस्था वाला ब्रह्मात्मा तथा चार अवस्था वाले ब्रह्मात्मा की चारों अवस्थाओं को ओम् की अकार आदि मात्राओं में घटाया जिस ओम् को ब्रह्मात्मा बतलाया गया था। ऋषि दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश में लिखा है "ओ३म् यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है"। अतः ओ३म् सांसारिक पदार्थों का संघात या जीवों को मान लेना और कहना अयुक्त ही है। ब्रह्मात्मा की जागरित

आदि अवस्थाएं होती हैं—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ (मनु० १।५२)

अर्थात् जिस समय वह परमात्मदेव जागता है उस समय यह जगत् प्रसिद्ध व्यापार में होता है और जिस समय वह सोता हैं तब सब छिप जाता है। लौकिक एवं ज्यौतिष सिद्धान्त भी है कि जब तक सृष्टि है तब तक ब्राह्म दिन और जब तक प्रलय है तब ब्राह्मरात्रि कहलाती है अतः सृष्टिकार्य में उसका प्रवृत्त होना और उससे निवृत्त होना ही परमात्मदेव का जागना और सोना है।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध है कि किसी चेतन व्यक्ति [चाहे ब्रह्म हो अथवा जीव] का जब स्थूल पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है तब उसको जागरित और जब सूक्ष्मों के साथ होता है तो उस समय स्वप्न और जब अतिसूक्ष्म अव्यक्त के साथ सम्बन्ध होता हो तो सुषुप्ति समझी जाती है ये पारिभाषिक अवस्थाएं हैं।

(ग) जागरित स्थानो[1] बहिःप्रज्ञः[2] सप्ताङ्ग[3] एकोनविंशतिमुखः[4] स्थूलभुग्[5] वैश्वानरः[6] प्रथमः पादः ॥३॥
स्वप्नस्थानो[1] ऽन्तःप्रज्ञः[2] सप्ताङ्ग[3] एकोनविंशतिमुखः[4] प्रविविक्तभुक्[5] तैजसो[6] द्वितीयः पादः ॥४॥
सुषुप्तस्थान[1] एकीभूतः[3] प्रज्ञानघन[2] (एवानन्दमयोहि आनन्दभुक्[5] चेतोमुखः[4] प्राज्ञः[6] तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

इन मन्त्रों में छः छः गुण सहचारी क्रमगत हैं पञ्चम मन्त्र में दो गुण वाक्यालंकार के लिये हेर फेर से रक्खे हुए हैं, हम इन क्रमगत सहचारी शब्दों को पृथक् पृथक् रख कर कुछ विज्ञप्ति दर्शाते हैं—

१	२	३	४	५	६	पाद
जागरितस्थान	बहिःप्रज्ञ	सप्ताङ्ग	एकोनविंशति मुख	स्थूलभुक्	वैश्वानर	प्रथम
स्वप्नस्थान	अन्तःप्रज्ञ	सप्ताङ्ग	एकोनविंशति मुख	प्रविविक्तभुक्	तैजस	द्वितीय
सुषुप्तस्थान	प्रज्ञानघन (गूढप्रज्ञ)	एकीभूत (एकाङ्ग)	चेतोमुख	आनन्दभुक्	प्राज्ञ	तृतीय

इन शब्दों की क्रामिक (क्रमबद्ध) और व्याकरणरूपी विज्ञप्ति को मीमांसा द्वारा रखते हैं वह यह कि—

(१) "जागरित स्थान[१], स्वप्नस्थान[२], सुषुप्तस्थान[३]" ये सब व्याकरण की व्युत्पत्ति में समान हैं अर्थात् तीनों बहुव्रीहि समास में युक्त हैं तथा क्रमगत "जागरित[१], स्वप्न[२] सुषुप्त" इन लाक्षणिक तीन अवस्थाओं के बोधक हैं।

(२) बहिष्प्रज्ञः[१], अन्तःप्रज्ञ[२], [प्रज्ञानघन[३] (गूढ़प्रज्ञ)" ये तीनों भी व्याकरण की व्युत्पत्तिमें पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में युक्त हुए समान हैं तथा त्रिविध प्रज्ञा के सूचक क्रमगत भी हैं अर्थात् व्यक्तप्रज्ञा, सूक्ष्मप्रज्ञा, गूढ़प्रज्ञा नाम से तीन प्रज्ञा होती हैं।

(३) प्र० सप्ताङ्ग[१], द्वि० सप्ताङ्ग[२], एकीभूत [एकाङ्ग] पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में व्याकरण की व्युत्पत्ति समान है तथा क्रमगत चेतन स्वरूप के व्याप्यों के बोधक हैं, अर्थात् 'पुष्पित फलित शाखासहित=चराचरात्मक सृष्टि सहित पृथिवी आदि लोक=स्थूलाकार प्रथम व्याप्य, शाखासहित ही=लोकमात्र=सूक्ष्माकार द्वितीय व्याप्य, मूलमात्र=प्रकृति-मात्र=अतिसूक्ष्माकार तृतीय व्याप्य है।

(४) प्र० एकोनविंशतिमुख[१], द्वि० एकोनविंशतिमुख[२], चेतोमुख[३]" पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में समान हैं और क्रमगत स्थूलशक्ति (शारीरिकशक्ति) सूक्ष्मशक्ति (ऐन्द्रियिकशक्ति), मानस-शक्ति या संकल्पशक्ति इन तीन शक्तियों के बोधक हैं।

(५) स्थूलभुक्[१] प्रविविक्तभुक्[२] आनन्दभुक्[३] ये तीनों

व्याकरण की व्युत्पत्ति से उपपद तत्पुरुष समास में हैं। तथा क्रम बद्धकोटि में भी हैं यह भी जानना चाहिये। आचार्य की पूर्वप्रदर्शित तथा आगामी क्रमशैली जनाती है कि ये तीनों भी क्रम में ही हैं, वह क्रम है स्थूलभुक् सूक्ष्मभुक् अव्यक्तभुक् = कारणभुक् = प्रकृतिभुक्। इस पर विशेष प्रकाश हम छटे क्रम के पश्चात् डालेंगे।

(६) 'वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, ये तीनों शब्द व्याकरण की व्युत्पत्ति से स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्ययान्त हैं अर्थात्—

विश्वानर + अण् स्वार्थे = वैश्वानरः (अग्निरूप)
तेजस् + अण् ,, = तैजसः (विद्युद्रूप)
प्रज्ञ + अण् ,, = प्राज्ञः (आदित्यरूप)

क्रमबद्ध अवस्था में "नायक-नेता[१], उत्तेजक-उत्तेजिता[२] दर्शक-द्रष्टा[३] (ईक्षक)" के बोधक हैं कारण कि किसी भी कार्य के सम्पादन करने में जब कोई चेतन प्रवृत्तिमार्ग में आता है तो प्रथम दर्शक-द्रष्टा फिर उत्तेजक-उत्तेजिता पश्चात् नायक नेता होता है अर्थात् अपने से भिन्न पदार्थ के साथ वर्तमान होने में ये औपाधिक (उपाधि से हुई) या नैमित्तिक अवस्थाएं समझें कारण कि कर्त्ता प्रथम किसी वस्तु को ज्ञानपूर्वक देखता है[१] कि यह अमुक वस्तु है और तदनन्तर उसका भेदन-छेदन[२] करके अवस्थाविशेष में कर देता है पश्चात् अभीष्ट निर्मिति (सृष्टि) में लाकरउ पयोग करता है, यह हुआ प्रवृत्ति-मार्ग। निवृत्तिमार्ग में ये हीं तीनों रूप प्रतिकूलता से होते हैं अर्थात् प्रथम नायक-नेता फिर उत्तेजक-उत्तेजिता पश्चात् दर्शक द्रष्टा होकर निवृत्त हो जाता है कारण कि समयानुसार अभीष्ट

उपयोग[1] हो जाने पर उस निर्मिति (सृष्टि) को निष्प्रयोजन (रद्दी) समझ नष्ट-भ्रष्ट[2] करने लगता है तब वह पूर्व जैसे सृष्टि-आकार में न रहकर भेदनछेदन अवस्था विशेष में आता है और वह अवस्थाविशेष भी पूर्व सृष्टि के लिये हुई थी अतः उस स्थिति में भी उसे नहीं रखना चाहता तब उससे भी निवृत्त हो जाता है[3] और वह वस्तु भी अपने कारण रूप प्रकृतिस्वरूप में आजाती है। इससे क्रमगत चेतन पदार्थ की अपने से भिन्न वस्तु के साथ वर्तमान तीन औपाधिक या द्वैत अवस्थाएं होती हैं।

अब पांचवें क्रम पर विशेष विचार देखें—

(५) क्रम "स्थूलभुक्', प्रविविक्तभुक् [प्रविवेचनगत भुक्= सूक्ष्मभुक्], आनन्दभुक [अव्यक्तभुक=कारणभुक्=प्रकृति-भुक्] है "।

यहां आनन्द शब्द अव्यक्त-कारण प्रकृति के लिये हैं यह आचार्य की शैली से स्पष्ट है। आचार्य ने प्रथम स्थूल लिखा पुनः प्रविविक्त=सूक्ष्म पुनः आनन्द अतः क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते हुए अव्यक्त प्रकृति को सिद्ध करता है।

(ख) सुषुप्ति का नींद का सोना आनन्द की नींद का सोना प्रसिद्ध है सुषुप्ति कारण शरीर अर्थात प्रकृति के आधार पर होती है, ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है "तीसरा कारण शरीर जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढनिद्रा होती है" (सत्यार्थप्रकाश)

(ग) 'आनन्दभुक्' शब्द यहां लाक्षणिक तीन अवस्थाओं के अन्तिम सुषुप्तावस्था का है एवं कोशों में अन्तिम कोश 'आनन्दमय' है इस प्रकार आनन्दमय कोश और आनन्द-

भुक् समान रूप है आनन्दमय कोश का आधार कारण प्रकृति है यह ऋषि दयानन्द ने लिखा है "आनन्दमय कोश जिस में प्रीति प्रसन्नता न्यून आनन्द अधिकानन्द और आधार कारण प्रकृति है" (सत्यार्थ प्रकाश नवम समु०) अतः आनन्द भुक् में आनन्द शब्द कारणप्रकृति का बोधक है।

अब लीजिये उपासनाशास्त्र की अनुसारता जो आनन्द के अव्यक्त कारण प्रकृति अर्थ में विशेष प्रमाण है। इस उपनिषद् में ओ३म् रूप उपास्य ब्रह्मात्मा की चार अवस्थाएं बतलाई हैं उन अवस्थाओं में उपासक या अभ्यासी की चार प्रकार की समाधियां होती हैं उन्हें निम्न योगसूत्र और व्यासभाष्य में तुलना करके देखें—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥

(योग० समाधि० १।१७)

अर्थात् "वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम, अस्मितानुगम" ये चार सम्प्रज्ञात समाधि होती हैं। एवं "स्थूलभुक वैश्वानर" की उपासना से वितर्कानुगम, "प्रविविक्तभुक्-तैजस" की उपासना से विचारानुगम, "आनन्दभुक् प्राज्ञ" की उपासना से आनन्दानुगम, और आगामी "एकात्मप्रत्ययसार" की उपासना से अस्मितानुगम समाधि होती है। अत्र इस बात को अर्थसहित व्यासभाष्य द्वारा स्फुट करते हैं—

वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति (व्यास भाष्य)

उपास्य संख्या	विवरण	उपास्य का स्वरूप	समाधि का स्वरूप
१	व्यास—	वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः ।	तत्र चतुष्टयानुगतः प्रथमः समाधिः सवितर्कः ।
	भाषार्थ—	चित्त के सम्मुख स्थूल पदार्थों से लक्षणा में आया स्वरूप वितर्क कहलाता है । एवं 'स्थूलभुक्' उपास्य वितर्क है ।	उन चारों में से प्रथम समाधि सवितर्क है । एवं 'स्थूलभुक्' उपास्य से 'सवितर्क' समाधि होती है ।
२	व्यास—	सूक्ष्मो विचारः ।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) द्वितीयः (समाधिः) वितर्कविकलः सविचारः ।
	भाषार्थ—	चित्त के सम्मुख सूक्ष्म पदार्थों से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप विचार कहाता है । एवं 'प्रविविक्तभुक्' उपास्य 'विचार' है ।	(उन चारों में से) द्वितीय (समाधि) वितर्कानुगम से आगे बढ़ी हुई सविचार है । एवं 'प्रविविक्तभुक्' उपास्य से 'सविचार' समाधि होती है ।

३	व्यास—	आनन्दो ह्लादः ।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) तृतीयः (समाधिः) विचारविकलः सानन्दः ।
	भाषार्थ—	चित्त के सम्मुख अव्यक्त अर्थात् कारण पदार्थ मे लक्षणा में आया स्वरूप आनन्द कहाता है। एवं 'आनन्द-भुक्' उपास्य 'आनन्द' है।	(उन चारों में से) तृतीय (समाधि) विचारानुगम से आगे बढ़ी हुई 'सानन्द' है। एवं 'आनन्दभुक्' उपास्य से 'सानन्द' समाधि होती है।
४	व्यास—	एकात्मिका संविदस्मिता।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) चतुर्थः (समाधिः) तद्विकलोऽस्मितामात्र इति।
	भाषार्थ—	केवल आत्मा से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप 'अस्मिता' कहाता है। एवं आगामी 'एकात्म प्रत्ययसार' उपास्य 'अस्मिता' है।	(उन चारों में से) चतुर्थ (समाधि) आनन्दानुगम से आगे बढ़ी हुई 'अस्मितामात्र' है। एवं 'एकात्मप्रत्यय-सार' उपास्य से 'अस्मितामात्र' समाधि होती है।

इस प्रकार विवेचन से 'आनन्दभुक्' को अव्यक्तभुक्, प्रकृतिभुक्, कारणभुक् कहा जा सकता है। यहां उपनिषद् में आया आनन्द शब्द अव्यक्त प्रकृति या कारण का अर्थ रखता है। लोक में भी गहराई या मूल या कारण में पहुँचने पर कहा जाता है कि अब मुझे आनन्द प्राप्त हुआ है।

चेतन व्यक्ति का प्रवृत्तिमार्ग में प्रथम 'कारणशरीर' फिर 'सूक्ष्मशरीर' पश्चात् 'स्थूलशरीर' होता है तथा निवृत्तिमार्ग में 'प्रथम स्थूल शरीर' को त्यागता है फिर 'सूक्ष्मशरीर' को पश्चात् 'कारण शरीर' को भी त्याग देता है।

जिस प्रकार दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि यह अस्मदादिकों का शरीर भी (व्यष्टि रूप से) सृष्टि या संसार है एवं औपनिषद सिद्धान्त में यह दृश्य और अदृश्य सम्पूर्ण संसार ब्रह्मात्मा का शरीर है यह बात निम्न उपनिषद् वचनों से प्रकट है—

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥
योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरम्० ॥
योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो० यस्याग्निः शरीरम्० ॥
योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्० यस्यान्तरिक्षं शरीरम् ॥
यो वायौ तिष्ठन्० यस्य वायुः शरीरम् ॥
यो दिवि तिष्ठन्० यस्य द्यौः शरीरम् ॥
य आदित्ये तिष्ठन्० यस्यादित्यः शरीरम् ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्० यस्य दिशः शरीरम् ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्० यस्य चन्द्रतारकं शरीरम् ॥

य आकाशे तिष्ठन्० यस्याकाशं शरीरम्० ॥

(बृहदारण्यको० अ० ३।ब्रा० ७।म० ३—१२)

गौतम के पुत्र उद्दालक ऋषि ने महर्षि याज्ञवल्क्य से अन्तर्यामी ब्रह्मात्मा का उपदेश सुनाने को कहा था उसके उत्तर में याज्ञवल्क्य के उक्त वचन हैं, अर्थात् "हे उद्दालक ! जो देव इस पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौः, आदित्य, दिशाओं, चन्द्रतारों और आकाश आदि में रहता हुआ भी इन से भिन्न तथा इन जड आदि स्वभावों से भी पृथक् है जिसे ये पृथिवी आदि नहीं जानते प्रत्युत ये पृथिवी आदि सब ही जिस देव का शरीर है जो ऐसा भिन्न होता हुआ भी इन पृथिवी आदिकों को वश में कर रहा है सो यह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है।"

ये जो कुछ शरीर अवस्था आदि निरूपण किए हैं यद्यपि ब्रह्मात्मा इन से लक्षित होता है तथापि ब्रह्मात्मा इन सब से पृथक् वस्तु ही है कारण कि यह सब नैमित्तिक स्वरूप है वास्तविक स्वरूप या केवलस्वरूप का वर्णन सप्तम (७ वें) वचन में कहा जावेगा। जो लोग इन पृथिवी आदि को भी ब्रह्म समझे बैठे हैं उन्हों ने इस उपनिषद् को नहीं समझा कारण कि यह बात पूर्वोक्त अन्तर्यामीप्रकरण से भी स्पष्ट है कि वह ब्रह्मात्मा इन से भिन्न तथा इस उपनिषद् में भी इन तीन अवस्थाओं

वाले वचनों में 'जागरितस्थानः' आदि आरम्भ के चार चार लक्षण बहुव्रीहि समास में हैं तथा पञ्चम प्रत्येक में उपपद-तत्पुरुष समास है जोकि अन्य पदार्थ में होते हैं जैसे चित्रगु और कुम्भकार में हैं यहां चित्ररङ्ग वाली गौएं जिसकी हैं वह चित्रगु स्वामी चित्ररङ्ग और गौओं से भिन्न है कुम्भकार में कुम्भ अर्थात् घड़े का बनाने वाला भी घडे से भिन्न होता है एवं यहां उपनिषद् में 'जागरितस्थानः' आदि और स्थूलभुक् आदि उदारहणों में समझना चाहिये।

वस्तुतः ब्रह्मात्मा हो क्या जीवात्मा भी इन अवस्था आदि से पृथक् है। ऋषि दयानन्द ने कोशों, अवस्था और शरीरों का वर्णन करके लिखा है कि "इन सब कोश अवस्थाओं से जीव पृथक् है (सत्यार्थ प्रकाश। समु० ६) ॥५॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

अर्थ–(एषः-सर्वेश्वरः) यह तृतीयावस्थावाला ब्रह्मात्मा सर्वेश्वर है कारण कि सब वस्तुओं पर जो ईश्वरत्व=स्वामित्व है वह इसी अवस्था वाले में अधिष्ठित है (एषः-सर्वज्ञः) यही तृतीयावस्था वाला सर्वज्ञ है समस्त वस्तुओं का ज्ञान तथा जीवों के समस्त कर्मकलाप का ज्ञान इसी अवस्थावाले में है (एषः-अन्तर्यामी) यही तृतीयावस्थावाला समस्त जड़ जङ्गम के अन्दर यमन नियमन करने वाला है (एषः-सर्वस्य योनिः) यही तृतीयावस्थावाला सब उत्पन्न वस्तुओं का कारण है (भूतानां

प्रभवाप्ययौ हि) सब वस्तुओं का प्रभव = उत्पत्तिस्थान और अप्यय = लय स्थान यही है कारण कि यहां से उत्पत्ति करने वाली प्रवृत्ति आरम्भ होती है तथा यहां पर ही लय करने वाली निवृत्ति स्थान पकड़ती है ॥६॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्। एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

अर्थ—पूर्ववत् वही विचारशील मनुष्य जङ्गल में विराजमान ब्रह्मविचार में निमग्न प्रकृति के आधार पर आनन्दानुगम समाधि तक पहुँचा हुआ आगे ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रवेश करता है वह ब्रह्मात्मा जबकि प्रकृति को भी लक्ष्य नहीं कर रहा था तब वह किस अवस्था में था तब मन्त्रगत भावों का अन्तरात्मा में भान होता है (नान्तःप्रज्ञम्) उसे अन्तःप्रज्ञ नहीं कह सकते दूसरी अवस्था वाला अन्तःप्रज्ञ था (न बहिःप्रज्ञम्) न बहिःप्रज्ञ कह सकते हैं वह प्रथमावस्थावाला था (नोभयतःप्रज्ञम्) न दोनों से मिश्रित (न प्रज्ञानघनम्) न प्रज्ञानघन—गूढ़प्रज्ञ कह सकते हैं वह तृतीयावस्थावाला था (न प्रज्ञम्) न द्रष्टा (न—अप्रज्ञम्) न अद्रष्टा कह सकते हैं किन्तु उसे (अदृष्टम्) अदृष्ट—दृष्टि से परे (अव्यवहार्यम्) व्यवहार में न आने योग्य (अग्राह्यम्) ग्रहण करने में अयोग्य (अलक्षणम्)

लक्षण से परे (अचिन्त्यम्) चिन्तन में न आने योग्य (अव्यपदेश्यम्) दूसरे को संकेतित करने या समझाने के अयोग्य कह सकते हैं[1] (एकात्मप्रत्ययसारम्) एक=केवल[2] आत्मप्रत्यय आत्मा में प्रतीति-प्रतिभान—अनुभव ही सार—स्वरूप जिसका है[3] (प्रपञ्चोपशमम्) संसार के प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापार से पृथक् (शान्तम्) निर्विकल्प (शिवम्) कल्याणरूप[4] है।

---

[1] यहां तक इस तुरीयावस्थावाले का नेति नेति(ऐसा नहो वैसा नहीं) स्वरूप था।

[2] "एकशब्दोऽयं बह्वर्थः···अस्त्येव—असहायवाची तद्यथा—एकाग्नयः, एकहलानि, एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति—असहायैरित्यर्थः" (व्याकरणमहाभाष्यम्)

लोक में भी 'एक' शब्द केवल अर्थ में प्रसिद्ध है, जैसे कोई पूछता है आपके यहां कौन कौन पशु हैं उत्तर में कहता है एक गौवें ही हैं अर्थात् केवल गौएं ही हैं।

[3] सार का अर्थ स्वरूप है "सृ स्थिरे" (अष्टा० ३।३।१७) से सार शब्द बना है। किसी भी वस्तु का स्वरूप ही स्थिर होता है। यथा चेतना जीव में, जडत्व प्राणी में और प्रकाश अग्नि में स्थिर है अर्थात् जीव चेतनस्वरूप है प्राणी जडस्वरूप है अग्नि प्रकाशस्वरूप है।

[4] सुख, आनन्द, शिव ये तीनों शब्द लोक में सुख के लिये एक जैसे प्रयुक्त होते हैं, परन्तु ये भिन्न भिन्न प्रकार के सुख के लिये हैं ? सुख=सु+ख, 'ख=इन्द्रियों का नाम है 'सुगतानि खानि यस्मिन् तत् सुखम्' जिस व्यवहार में इन्द्रियां सुगम रूप से प्रविष्ट हो गई वह सुख है।

(अद्वैतम्) केवल[1] (चतुर्थं मन्यन्ते) चतुर्थ-तुरीयावस्थावले को मानते हैं अनुभवद्वारा जानते हैं ध्यानी योगी जन (सः-आत्मा) वह आत्मस्वरूप में है (सः-विज्ञेयः) वह जानने योग्य--साक्षात् करने योग्य है॥ ७॥

विशेष—यहां तक ब्रह्मदर्शन की चार स्थितियां हुईं जोकि—

१-स्थूल जगत् में ब्रह्मदर्शन।

२-सूक्ष्मजगत् में ब्रह्मदर्शन।

३-अव्यक्त प्रकृति में ब्रह्मदर्शन।

४-केवल ब्रह्मदर्शन है।

ये ऐसे ही हैं जैसे घृतरूप स्नेह का स्पर्श या अनुभव प्रथम दूध में दूसरे इस से अधिक मलाई में तीसरे उस से भी अधिक मक्खन में चौथे उस से भी अधिक घृत स्नेह ही स्नेह है केवल स्नेह होता है।

अर्थात्—इन्द्रियों तक सुख है और इन्द्रियों से ऊपर मानस सुख आनन्द कहलाता है, जब मनुष्य गहराई में कारण में पहुंच जाता है तभी कहता है कि अब मुझे आनन्द प्राप्त हुआ। आत्मिक सुख या ब्रह्मानन्द का नाम शिव है।

[1] यहां यह स्पष्ट है कि इस से पूर्व अवस्थाएं अद्वैत नहीं थी द्वैत थीं उनमें दूसरी वस्तुओं-स्थूल सूक्ष्म जगत् एवं प्रकृति के सहयोग से ब्रह्मात्मा का स्वरूप बतलाया गया था परन्तु यहां उनसे अलग है अत एव अद्वैत है केवल है। यहां उक्त आचार्यशैली से स्पष्ट है कि नवीन वेदान्त का अद्वैत यहां नहीं है यह तुरीय ब्रह्मात्मा का अनुभव है। नकि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतः यहां के 'अद्वैत' का अर्थ 'केवल' है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा
मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति ॥ ८ ॥

अर्थ—(सः-अयम्-आत्मा) वह यह चार-अवस्थावाला ब्रह्मात्मा (अध्यक्षरम्-ओंकारः) अक्षरों में घटनेवाला--अक्षरों में कहा जाने वाला ओम् है, तथा 'अध्यक्षरम् ओंकारः' अक्षरों में घटनेवाला ओम्='सोऽअयम्-आत्मा' वह यह चार अवस्थावाला ब्रह्मात्मा है। अर्थज्ञानकाल में अर्थ जानने वाले के प्रति संज्ञा-संज्ञी का अभेद होजाता है भेद तो तब तक प्रतीत होता है जब तक अर्थज्ञान न हो। जैसे जिस मनुष्य ने देवदत्त को न देखा हो उस ऐसे मनुष्य को यदि देवदत्त के पुकारने को कहा जावे तो उस ऐसे पुकारते हुए अपरिचित मनुष्य के अन्दर 'देवदत्त' शब्दबुद्धि ही होती है प्रत्युत जब किसी ऐसे मनुष्य को पुकारने के लिये कहें जो देवदत्त को जानता हो तो 'हे देवदत्त' ऐसा पुकारते हुए उसके अन्दर उसकी आकृति बस जावेगी वह मानो आकृति का पुकारना है। इस प्रकार संज्ञा 'देवदत्त' और संज्ञी आकृतिमान् शरीररूप संज्ञी का अभेद होजाता है (अधिमात्रं पादाः-मात्राः-च पादाः) मात्राधिष्ठित–मात्राओं में घटने वाली अवस्थाएं हैं और मात्राएं ही अवस्थाएं हैं पूर्ववत् अभेद से (अकारः-उकारः-मकारः-इति) अकार=अ, उकार=उ, मकार=म्, इति=मात्राओं का अभ्यासपूर्वक विराम[२] 'अमात्र' ये चारों पूर्वोक्त अवस्थाओं के संज्ञा अर्थात्

[२] अभ्यासपूर्वक विराम अर्थात् चुप में और अभ्यास के विना चुप में भारी

शब्द रूप हैं एवं अवस्थाएं संज्ञी अर्थात् अर्थरूप हैं॥८॥

**जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्ते-
रादिमत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च
भवति य एवं वेद ॥६॥**

वक्तव्य—यहां से उपनिषद् के अन्त तक सम्बन्धप्रदर्शक वचन हैं। 'शब्द, अर्थ, सम्बन्ध' यह शब्दशास्त्र (व्याकरण) का अभिधेय है, उक्त तीनों इस उपनिषद् में स्पष्ट किये गए हैं, अकारादि मात्राओं से युक्त 'ओम्' शब्द का जागरित-स्थानादि चार अवस्थाओं से युक्त ब्रह्मात्मा अर्थ है यह तो पूर्व वचन में आचार्य ने दर्शा दिया अब आचार्य अकारादि मात्रारूप शब्द से जागरितस्थान आदि अवस्थारूप अर्थ का सम्बन्ध क्या है या इन दोनों का सम्बन्ध क्या है यह इस वचन से प्रारम्भ कर स्पष्ट करता है।

अर्थ—(जागरितस्थानः–वैश्वानरः) प्रथमावस्था सम्बन्धी आदि और अन्त के शब्द लेकर आचर्य वर्णन करता है कि तृतीय मन्त्र में ब्रह्मात्मा को जो जागरितस्थानावस्था कह आए हैं वह (अकारः प्रथमा मात्रा) ओम् में 'अ' वर्णरूप प्रथम मात्रा है अर्थात् ओम् में 'अ' शब्द और ब्रह्मात्मा की जागरितावस्था अर्थ है। क्यों?–(आप्तेः–आदिमत्वात्–वा) आप्ति—पूर्णता

अन्तर है विना अभ्यास का चुप अन्धकारमय है और अभ्यासपूर्वक चुप संस्कारमय है यथा सार्थ मन्त्र श्लोक गान के अनन्तर चुप एक संस्कारमय आनन्दभरी चुप है।

से और आदिमता—प्रथमता से [1] उक्त शब्द और अर्थ में दोनों धर्म विद्यमान होने से प्रवृत्तिदृष्टि से आप्ति—पूर्णता और निवृत्तिदृष्टि से आदिमता—प्रथमता विद्यमान है अर्थात् जैसे जागरितस्थान अवस्थारूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि—विकासदृष्टि—फैलाव की दृष्टि से आप्त है पूर्ण है इस से आगे अवस्थाओं की प्रवृत्ति--विकास या फैलाव नहीं है इसी प्रकार 'अ' मात्रा रूप शब्द ध्वनि भी प्रवृत्तिदृष्टि--विकास दृष्टि--फैलाव की दृष्टि से आप्त है पूर्ण है इस से आगे ध्वनिरूप मात्राओं की प्रवृत्ति विकास--फैलाव नहीं है। तथा जैसे जागरितस्थान अवस्था रूप अर्थ निवृत्तिदृष्टि--संकोचदृष्टि लयदृष्टि से आदिम है प्रथम है इससे पूर्व अवस्थाओं की निवृत्ति--संकोच--लयता नहीं है इसी प्रकार 'अ' मात्रारूप शब्दध्वनि भी निवृत्तिदृष्टि--संकोच दृष्टि--लयदृष्टि से आदिम है प्रथम है इससे पूर्व मात्राओं की निवृत्ति--संकोच--लयता नहीं है। ये आप्ति और आदिमता सम्बन्ध के रूप में शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान है अतएव आप्ति और आदिमता यहां सम्बन्ध है [2] (आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदि:--च भवति यः--एवं वेद) अवश्य ही सर्वथा आप्तकाम हो जाता प्रवृत्ति दृष्टि--विकास दृष्टि में और निवृत्तिदृष्टि--संकोचदृष्टि में आदि--प्रथमस्थितिवाला हो जाता है जागरितस्थान अवस्था और

---

[1] "वा--अथापि समुच्चयार्थे भवति" (निरुक्तम् अ० १। ख० ४)

[2] यदि कोई कहे कि यह सम्बन्ध दर्शाना काल्पनिक या अप्रामाणिक

है तो हम यह कहेंगे कि यहां तो सम्बन्ध वास्तविक और प्रत्यक्ष घटता भी है परन्तु जहां पर कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दर्शाया वहां पर निःशङ्क आंख बन्द करके आप्तोपदेश को प्रमाण मानते ही किसी भी शब्द का अर्थ प्रामाणिक मान लेते हैं, जैसे वह्निः--अग्निः--भू--सत्तायाम् इत्यादि कोष और धातुपाठ आदिग्रन्थों में किसी भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के दर्शाये बिना ही रखे हुये हैं तथापि हम उनको परम प्रमाण मानते हैं अपि च आङ्गलभाषा (अंग्रेजी) में Water का जल अर्थ है प्रत्युत कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध Water शब्द का जल के साथ दिखलाई नहीं पड़ता तथापि आपको प्रमाण मानना ही पड़ता है। जब किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के दर्शाये बिना भी हम उसको मानते हैं तो फिर जहां प्रत्यक्ष सम्बन्ध दर्शाया गया है उसे अप्रमाण मानना या काल्पनिक कहना अयुक्त है। वस्तुतः 'वह्नि' का अर्थ 'अग्नि' 'भू' का अर्थ 'होना' या Water का अर्थ 'जल' भी किसी सम्बन्ध से ही है नहीं तो Cater का जल अर्थ क्यों नहीं है। इसलिये शब्द और अर्थ की प्रवृत्ति विना सम्बन्ध के नहीं होसकती अतएव 'शब्दार्थसम्बन्धो नित्यः' (महाभाष्य) शब्द अर्थ और सम्बन्ध नित्य हैं यह शब्द शास्त्र का मत है।

(प्रश्न) जबकि 'शब्द, अर्थ, सम्बन्ध' नित्य हुये तो फिर क्या भिन्न भिन्न देशभाषाओं के भी शब्द, अर्थ, सम्बन्ध नित्य हुये जैसा कि Water का जल अर्थ है और सम्बन्ध भी कोई अप्रत्यक्ष है क्योंकि Cater कहने से जल नहीं समझा जाता ऐसा कहा है ?

(उत्तर) हां, जब तक देशभाषाओं को पढ़ने पढ़ाने वाले तथा प्रचारक और उस देश भाषा को स्फुट करने वाले ग्रन्थ विद्यमान हैं तब तक उस देशभाषा के शब्द, अर्थ,सम्बन्ध नित्य हैं किन्तु जो ईश्वरीय

विशेष—आचार्य ने इन सम्बन्धप्रदर्शक वचनों में दो प्रकार के सम्बन्ध बतलाए हैं, एक शब्दशास्त्रसम्मत वैकारिक हेतुरूप दूसरा शब्दशास्त्रसम्मत पारमार्थिक या उपासनाशास्त्र सम्मत उपास्याकारवृत्तितारूप। 'अ' शब्द, जागरितस्थान ब्रह्मात्मा अर्थ, इनका आप्ति और आदिमता सम्बन्ध है शब्द-शास्त्र सम्मत वैकारिक हेतु रूप हुआ। दूसरा उपासना शास्त्र-सम्मत उपास्याकारवृत्ति रूप आचार्य ने बतलाया है "आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिश्च भवति य एवं वेद" इस प्रकार जानने वाले या उपासक के अन्दर भी उक्त सम्बन्धरूप 'आप्ति' और 'आदिमता' आजाती है अर्थात् ज्ञाता या उपासक भी वैसा ही हो जाता है। शब्दशास्त्र महाभाष्य में कहा है—

महान् देवः शब्दः महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् (महाभाष्य १।१।१)

अर्थात् शब्दस्वरूप जो महान देव है उसके साथ हमारी

वेदभाषा है जो कि पूर्व कल्पों में भी थी अब है आगे कल्पों में भी होगी "यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१६०।३) के प्रमाण से उस ऐसी वेदभाषा के शब्द अर्थ, सम्बन्ध महानित्य हैं एवं उस इस ही वेदभाषा का शब्द यह 'ओम्' भी है "ओम् क्रतो स्मरण" "ओम् खम्ब्रह्म" (यजु० ४०।१५,१७) इस प्रकार 'ओम्' शब्द इसका अर्थ तथा इनका सम्बन्ध ये तीनों महानित्य हुए, उन ही शब्द–अर्थ–सम्बन्धों को आदि सृष्टि से लेकर गुरुपरम्परा द्वारा प्रवचनप्रणाली से ऋषि ग्रहण करते चले आए हैं उन ही शब्द–अर्थ–सम्बन्धों को ग्रन्थाकार में निबन्धित किया है अतएव के वास्तविक और प्रामाणिक हैं।

समानता होजावे इसलिये व्याकरण पढ़ना होता है।

अब इस विषय के बोधार्थ देखें निम्न तालिका—

शब्दशास्त्र की तद्बोध पारमार्थिकता में—	शब्द	अर्थ	सम्बन्ध (समानता) १
योग की परिभाषा में-	धारणा	ध्यान	(समाधि ध्येयाकार वृत्ति) २
औपनिषद विद्या में-	उपास्य	उपासना	उपास्याकारता ३
,, ,,	(ब्रह्म)	ब्रह्मध्यान	(ब्रह्माकारता)

तालिका के अन्तिम क्रम में प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—

(१) शब्दशास्त्र की तद्बोध पारमार्थिकता का प्रमाण तो 'महान् देवः शब्दः'''इत्यादि दे चुके।

(२) योग की परिभाषा का प्रमाण निम्न देखें—

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (योग० ३।३)
"ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते" (व्यासभाष्यम्)

"ध्यानसमाध्योरयं भेदो ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति (ऋषि दयानन्दः, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्)

(३) औपनिषद विद्या का प्रमाण—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

वदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डको, ३।१।३)

अर्थात् ध्यानी विद्वान् या उपासक जब उस जगदीश परमात्मदेव का साक्षात् करता है तो पुण्य पाप से छूट कर शुद्ध हुआ उपास्यरूप ब्रह्मात्मा के गुणसाम्य को प्राप्त होता है ॥६॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद् वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति (नास्याब्रह्मवित् कुले भवति+) य एवं वेद ॥१०॥

अर्थ—(स्वप्नस्थानः- तैजसः) पूर्वोक्त द्वितीयावस्थागत आदि और अन्त के शब्द लेकर आचार्य उपदेश करता है कि ब्रह्मात्मा की जो स्वप्नावस्था कह आए हैं वह (उकारः- द्वितीया मात्रा है) 'ओम्' में 'उ' वर्णरूप द्वितीया मात्रा है अर्थात् ओम् में 'उ' शब्द और ब्रह्मात्मा की स्वप्नावस्था अर्थ है (उत्कर्षात्

+ यह कोष्ठान्तर्गत पाठ इस उपनिषद् से बाहिर का है, आचार्यशैली यहां सम्बन्ध प्रदर्शन में है यह पाठ सम्बन्ध से बाहिर है। अथवा यह पाठ सभी सम्बन्धप्रदर्शक मन्त्रों में होगा उपासक की महत्ता दर्शाने के लिए कि उपासक के योनिवंश या विद्यावंश में कोई नास्तिक नहीं होता है उसका प्रभाव उसके वंश पर पड़ता है, जैसे मुण्डकोपनिषद् में कहा है "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्य ब्रह्मवित् कुले भवति"(मुण्डको० ३।२।६)

❀'वा' पूर्ववत् समुच्चयार्थ में है।

उभयत्वात् वा) उत्कर्ष--बढ़ते रहने और उभयत्व--मध्यत्व होने से उक्त शब्द और अर्थ में ये दोनों धर्म विद्यमान होने से प्रवृत्ति दृष्टि से उत्कर्ष--वृद्धि--बढ़ते रहना और निवृत्तिदृष्टि से उभयत्व--मध्यत्व विद्यमान है। अर्थात् जैसे स्वप्नस्थानावस्था-रूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि-फैलाव की दृष्टि से उत्कर्ष में है--उत्थान में है—बढ़ रही है क्योंकि यहां को प्रवृत्तिदृष्टि—विकासदृष्टि फैलाव दृष्टि की पूर्णता नहीं है प्रत्युत आगे भी प्रवृत्ति या विकास होने वाला है ऐसे ही 'उ' मात्रारूप शब्द भी प्रवृत्तिदृष्टि—विकासदृष्टि फैलाव की दृष्टि से उत्कर्ष में है—उत्थान में है क्योंकि यहां प्रवृत्तिदृष्टि—विकास दृष्टि की पूर्णता नहीं है प्रत्युत आगे भी प्रवृत्ति या विकास होने वाला है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में उत्कर्परूप सम्बन्ध है। तथा जैसे स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ निवृत्तिदृष्टि—सङ्कोचदृष्टि—लयदृष्टि से उभयत्व—मध्यस्व—मध्य में वर्तमान है क्योंकि जागरितस्थानावस्था की निवृत्ति हो चुकी है दूसरी संख्या में यह है, ऐसे ही 'उ' मात्रारूप शब्द भी निवृत्ति-दृष्टि—सङ्कोचदृष्टि—लयदृष्टि से उभयत्व—मध्यत्व—मध्य में वर्तमान है क्योंकि 'अ' मात्रा की निवृत्ति हो चुकी है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में उभयत्व सम्बन्ध है। (उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानः- च भवति यः-एवं वेद) निःसन्देह उन्नत करता है ज्ञानसन्तान—ज्ञानक्रम को 'प्रवृत्तिदृष्टि से—विकास-दृष्टि से' और समान--दोनों ओर मानों से वर्तमान या मानों के

मध्य स्थित होजाता है तुला में मानों के मध्य समाना सूची की भांति 'निवृत्तिदृष्टि से-सङ्कोचदृष्टि से-लयदृष्टि से' स्वप्नस्थानावस्था और 'उ' मात्रा के सदृश जो उसका जानने वाला या उपासक है ॥

विशेष—यहां पर आचार्य ने पूर्व मन्त्र की भांति सम्बन्ध को स्पष्ट किया है कि ओम् में 'उ' शब्द और ब्रह्मात्मा की स्वप्नस्थानावस्था अर्थ है उत्कर्ष और उभयत्व उनमें सम्बन्ध है। यह तो हुआ शब्दशास्त्र सम्मत वैकारिक सम्बन्ध है साथ में आचार्य ने पारमार्थिक सम्बन्ध भी कि इन शब्द और अर्थ को जान लेने वाले या उपासक की ज्ञानसहचरितावस्था जो होजाती है वह 'उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति' कथन से बतलाया है ज्ञान को उन्नत करता है आगे बढ़ाता रहता है प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि से 'उ' शब्द और 'स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ की भांति तथा समान-दोनों ओर मानों से वर्तमान उभयत्व को प्राप्त होजाता है निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि से 'उ' शब्द और स्वप्नस्थानावस्था रूप अर्थ की भांति ॥१०॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इद ँ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

अर्थ—(सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः) पूर्वोक्त तृतीयावस्था सम्बन्धी आदि और अन्त के गुणों को लेकर आचार्य दर्शाता है कि ब्रह्मात्मा

की सुषुप्तस्थानी तृतीयावस्था कही है वह (मकारः--तृतीया मात्रा) 'ओम्' में 'म्' तृतीय मात्रा है 'ओम्' में 'म्' शब्द और ब्रह्मात्मा की सुषुप्तावस्था अर्थ है (मितेः--अपीतेः--वा) मिति—मापकता धर्म से और अपीति–लयता धर्म से उक्त शब्द और अर्थ में ये दोनों धर्म वर्तमान होने से मिति और अपीति सम्बन्ध है अर्थात् जैसे सुषुप्तस्थानावस्था रूप अर्थ प्रवृत्ति दृष्टि--विकासदृष्टि—फैलाव की दृष्टि से मापक है मूलरूप सूचक या प्रवर्तक है इसी प्रकार 'म्' रूप शब्द भी प्रवृत्तिदृष्टि-विकास दृष्टि--फैलावदृष्टि से मापक है मूलरूप सूचक या प्रवर्तक है। शान्त बैठे मनुष्य की बोलने में प्रथम होंठो के खुलने रूप स्फुरणा होती है होठों की खुलने रूप स्फुरणा में 'म्' अवस्थित हुआ आगे उच्चरित होने वाले वाग्विषय (शब्द) का मापक मूलसूचक–प्रवर्तक बनता है कि कुछ बोलेगा या बोला जायगा तथा निवृत्तिदृष्टि--सङ्कोचदृष्टि–लयदृष्टि में अपीति--अन्तक है जैसे सुषुप्तस्थानावस्था रूप अर्थ निवृत्ति दृष्टि--सङ्कोचदृष्टि--लय-दृष्टि से अन्तक या अन्तिम है आगे अन्त होने वाला कुछ नहीं है इसी प्रकार 'म्' रूप शब्द भी निवृत्तिदृष्टि--संकोच दृष्टि-लयदृष्टि से अन्तक या अन्तिम है क्योंकि इससे आगे अन्त होने वाला कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मीति–मापकता-मूल-सूचकता–प्रवर्तकता और अपीति–अन्तकता--अन्तिमता दोनों ये '' शब्द और सुषुप्तस्थानावस्था ब्रह्म में सम्बन्ध है (मिनोति

ह वै-इदं सर्वम्-अपीतिः—च भवति यः- एवं वेद) अवश्य ही लिङ्गरूपता से इस सब को जांच लेता है प्रवर्तक बन जाता है प्रवृत्तिदृष्टि से विकासदृष्टि से और अपने इन्द्रियादि संघात के अन्तिम रूप को सम्पादन कर लेता है 'म्' शब्द और सुषुप्त-स्थानावस्था रूप अर्थ के समान जो इस प्रकार जाननेवाला या उपासक है ॥

विशेष—यहां पर भी आचार्य ने पूर्व की भांति सम्बन्ध को स्फुट किया है कि ओम् में 'म्' शब्द और ब्रह्मात्मा की सुषुप्तस्थानावस्था अर्थ है इन दोनों में मिति--मापकता--प्रवर्तकता और अपीति--अन्तकता--अन्तिमता सम्बन्ध है यह तो हुआ शब्दशास्त्रसम्मत वैकारिक सम्बन्ध साथ ही आचार्य ने पारमार्थिक सम्बन्ध भी दर्शाया है कि इन शब्द और अर्थ को जानने वाले या उपासक की ज्ञानसहचरित अवस्था जो हो जाती है वह 'मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद' कथन से बतलाया है सब का मापक–प्रवर्तक हो जाता है प्रवृत्तिदृष्टि--विकास दृष्टि से और अपने संसार का अन्तिम स्वरूप सम्पादन करता है निवृत्ति दृष्टि-- संकोच दृष्टि से 'म्' शब्द और सुषुप्तस्थानावस्थारूप अर्थ की भांति।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः 'एकात्मप्रत्ययसारःप्रपञ्चोपशमः 'शान्तः' शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मना-ऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

अर्थ—(अमात्रः) ओम् में जो यह 'अ' आदि मात्राओं का अभ्यासपूर्वक विराम रूप शब्द है—'अ' आदि मात्राओं का अर्थज्ञानानन्तर शान्त संस्कार रूप शब्द है वह (चतुर्थः-अव्यवहार्यः-एकात्मप्रत्ययसारः प्रपञ्चोपशमः शान्त शिव अद्वैतः) चतुर्थ अव्यवहार्य अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञ न बहिः प्रज्ञ' से नेति नेति करके कहा हुआ एकात्मप्रत्ययसार केवल आत्मा में साक्षात् मात्र स्वरूप वाला, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत-केवल मात्र अर्थरूप है। यहां शब्द अर्थ और सम्बन्ध तीनों परमार्थ रूप हैं यहां शब्द भी अव्यक्त है अर्थ भी अव्यक्त है और सम्बन्ध भी अव्यक्त है (एवम्-ओङ्कारः -आत्मा-एव) इस प्रकार यह 'ओम्' ब्रह्मात्मा ही है (संविशति-आत्मना-आत्मानं यः-एवं वेद यः-एवं वेद) जो इस प्रकार जानने वाला या उपासक है वह अपने आत्मा से ब्रह्मात्मा में संवेश करता है उससे तादात्म्य समागम सम्बन्ध करता है आत्मसाक्षात् करता है।

विशेष—ओम् ब्रह्मगायत्री है, गायत्री में २४ अक्षर होते हैं, इस ओम् गायत्री के चार पाद हैं अतः प्रत्येक पाद में छः छः अक्षर हैं। इस ओम् नामक ब्रह्म रूप गायत्री के चार पाद पीछे क्रमशः आए हैं प्रत्येक पाद में छः छः अक्षर भी आए हैं जैसे प्रथम पाद में 'जागरित स्थानो[1] बहिःप्रज्ञः[2] सप्ताङ्गः[3] एकोनविंशतिमुखः[4] स्थूलभुग्वै[5] श्वानरः[6]' द्वितीयपाद में 'स्वप्नस्थानो[1] ऽन्तःप्रज्ञः[2] सप्ताङ्गः[3] एकोनविंशतिमुखः[4] प्रविविक्तभुक्[5] तैजसः[6] तृतीयपाद में 'सुषुप्तस्थान[1] प्रज्ञानघनः[2] एकीभूतः[3]

चेतोमुखः[४] आनन्दभुक्[५] प्राज्ञः[६] चतुर्थपादमें 'नान्तःप्रज्ञं'—अव्यपदेश्यम् [नकाररूप नेति नेति] एकात्मप्रत्ययसारं[२] प्रपञ्चोपशमं[३] शान्तं शिवम् अद्वैतम्' ये छः छः गुणरूप छः छः अक्षर हैं।

(ख) इस ओङ्कारोपासना में पाताञ्जल योगानुसार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से दो प्रकार की समाधि अभीष्ट हैं। सम्प्रज्ञात के चार भेद हैं "वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः" (योगदर्शन। समाधि १७ ।) वितर्कानुगम से जागरित स्थानी, विचारानुगम से स्वप्नस्थानी, आनन्दानुगम से सुषुप्त स्थानी और अस्मितानुगम से एकात्मप्रत्ययसार की उपासना होती है "एकात्मिका संविदस्मिता" (व्यासः) पश्चात् अद्वैत पर पहुँच कर असम्प्रज्ञात समाधि होजाती है 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (योगदर्शन । समाधिपाद । सू १८) अर्थात् वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम, अस्मितानुगम, समाधियों के अभ्यासपूर्वक विरामानुभव (विराम पद की प्राप्ति) संस्कारों से शेष–अवशेष–रहित स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि है।

इस उपनिषद् के "संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" बचन से योग का भी निरूपण मिलता है, जैसे योगदर्शन में समाधि का लक्षण किया है कि "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (योगदर्शन । समाधिपाद । सू ३) अर्थात् "अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव" —"ध्यान ही अर्थमात्रनिर्भास= ध्येयाकार निर्भासस्वरूपशून्य जैसा अर्थात् ध्येयाकार

वृत्ति=समाधि"। अथवा 'समाधि=ध्येयाकारवृत्ति' अतः ध्येयाकार वृत्ति बनाना ही समाधि प्राप्त करना है। इसी प्रकार यहां उपनिषद् में "संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्=य एवं वेद" अथवा "य एवं वेद=संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्" अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध करता है आत्मत्व शुद्ध स्वरूप से ब्रह्मात्मा में=जो ऐसे को जानता है' अथवा 'जो ऐसे को जानता है= तादात्म्य सम्बन्ध करता है आत्मत्व शुद्ध स्वरूप से ब्रह्मात्मा में' अतः आत्मत्वशुद्धस्वरूप से ब्रह्मात्मा में तादात्म्यसम्बन्ध करना= ध्येयाकारवृत्ति=अर्थमात्रनिर्भास=समाधि हुई। इस प्रकार इस तुरीयावस्थायुक्त ब्रह्मात्मा की प्राप्ति या उपासना का साधन ज्ञान (परवैराग्य) और योग (अभ्यास) का निर्देश यहां है। पूर्वोक्त जागरितस्थानी आदि लाक्षणिक अवस्थाओं की उपासना के लिये यहां ज्ञान (वैराग्य) और योग (अभ्यास) का स्वरूप सङ्केतित है [इस के लिये उपनिषद् के शब्द, अर्थ, सम्बन्ध का बोधक निम्न कोष्ठक पृष्ठ २१० पर देखें-]

सं०	शब्द	अर्थ	हेतुरूप सम्बन्ध	उपासक के प्रति पारिभाषिक सम्बन्ध
१	अ	जागरित स्थानी ब्रह्मात्मा	आप्तेरादिमत्वाद्वा	आप्नोति ह वै सर्वान् कामनादिश्च भवति य एवं वेद
२	उ	स्वप्न-स्थानी ब्रह्मात्मा	उत्कर्षादुभयत्वाद्वा	उत्कर्षति ह वै ज्ञान-सन्तति समानश्च भवति य एवं वेद
३	म्	सुपुप्त-स्थानी ब्रह्मात्मा	मितेरपीतेर्वा	मिनोति ह वा इदं सर्व-मपीतिश्च भवति य एवं वेद
४	इति (त्रिमा-त्राभ्यास पूर्वक विराम)	एकात्म प्रत्यय सार प्रपञ्चोपशम शान्त शिव अद्वैत ब्रह्मात्मा	अव्यवहार्य एकात्मप्रत्ययसार प्रपंचोपशम शान्त शिव अद्वैतता	संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद

कोष्ठक में 'शब्द, अर्थ' के हेतुरूप सम्बन्ध आचार्य के वर्णन किये हुए 'आप्तेः-आदिमत्वात्' 'उत्कर्षात्'-उभयत्वात्' 'मितेः-अपीतेः' दर्शाए हैं तथा उपासक के प्रति पामार्थिक सम्बन्ध भी आचार्य ने दो दर्शाए हैं—'आप्नोति ह वै सर्वान्-कामान्-आदिश्च भवति य एवं वेद' उत्कर्षति ह वै ज्ञान-

सन्ततिम्-समानश्च भवति व एवं वेद' 'मिनोति ह वा इदं सर्वम्-अपीतिश्च भवति य एवं वेद' । इस पर निम्न मीमांसा देखें।

मीमांसा—जब कि ज्ञानदृष्टि से शब्द और अर्थ में समानता है जैसे आचार्य ने 'सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति' (८) में प्रतिज्ञा की है वस्तुत: सिद्ध भी है जागरितस्थान आदि के पूर्वोक्त छहों गुण अकार आदि में भी हैं कारण कि उनमें भी षड्ज आदि सप्तस्वरों करके सप्ताङ्गता तथा अन्य लक्षणाएं भी विद्यमान हैं तथा शब्द और अर्थ का ज्ञाता या उपासक भी इन के गुणों को धारण करता है कारणकि जैसे प्रथमावस्थायुक्त ब्रह्मात्मा जागरितस्थान आदि लक्षणों से युक्त है एवं उपासक भी जागरितावस्था, शिर[१]-भुजाओं[२]-टांगों[२]-गुप्ताङ्ग[१]-मध्याङ्ग[१]-रूप बाह्य सप्ताङ्गों, स्थूल शरीर आदि से युक्त होता है तथा जैसे द्वितीयावस्था युक्त ब्रह्मात्मा स्वप्नस्थान आदि लक्षणों से युक्त है एवं उपासक भी स्वप्नावस्था, सुषुम्ना नाडी सम्बन्धी गुदाचक्र-उपस्थचक्र-नाभिचक्र-हृदयचक्र-कण्ठचक्र-भ्रूमध्यचक्र-ब्रह्मरन्ध्र रूप आन्तरिक अङ्गों, सूक्ष्म शरीर आदि से युक्त हो जाता है एवं जैसे तृतीयावस्थायुक्त ब्रह्मात्मा सुषुप्तस्थान आदि लक्षणों से युक्त

1069

है उपासक भी सुषुप्तावस्था अव्यक्त हृदयरूप अङ्ग, कारण शरीर आदि से युक्त होजाता है [1] तो फिर हेतुरूप सम्बन्ध तथा उपासक के पारमार्थिक सम्बन्ध में केवल दो दो का ही पाठ क्यों है ? और ये दो भी वे हैं जिनका पाठ जागरितस्थान आदि वचनों में अवस्थाओं के गुणों में नही है इस ऐसी आचार्यशैली को देखने से इन सम्बन्धप्रदर्शक वचनों में कुछ रहस्य की वात ही है जो आचार्य ने इस वचनपाठ में ऐसा स्वरूप रखा है सो यह आचार्य की शैली स्पष्ट जनाती है कि उपासक के प्रति पारमार्थिक सम्बन्ध में केवल फलश्रुति ही नहीं किन्तु ज्ञान (वैराग्य) और योग (अभ्यास) का भी विज्ञान है अर्थात् उपासनाकाल में उपासक की उपास्य ब्रह्म में प्रवृत्ति होना ज्ञान (वैराग्य) और उपास्य ब्रह्म से भिन्न में निवृत्ति होना योग (अभ्यास) है, निवृत्ति का फल त्याग है और प्रवृत्ति का फल प्राप्ति है। अब जागरितस्थान आदि चारों अवस्था वाले ब्रह्मात्मा की उपासना का द्योतक कोष्ठक आगे देखें—

---

[1] उपास्य के गुणों को उपासक धारण करता है, जैसे ऋषि दयानन्द ने लिखा है—

"५० –उपासना-जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

संख्या	उपास्यरूप शब्द	उपास्यरूप अर्थ	स्वस्थिति	अवस्था-नुष्ठान	शरीरानुष्ठान	योगविधि	कोशानुभव
१	अ	जागरित स्थान ब्रह्मात्मा	अपना संबंध सशरीर के साथ समझते हुए शरीर की स्थिरता सम्पादन करना।	जागरिता-वस्था में आजाना	स्थूल शरीर में होना	आसनाभ्यास	अन्नमय कोश
२	उ	स्वप्नस्थान ब्रह्मात्मा	भीतरी अङ्गों में शांति का सम्पादन करना।	स्वप्नावस्था में आजाना	सूक्ष्म शरीर में होना	प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास	प्राणमय और मनोमय कोश
३	म्	सुषुप्तस्थान ब्रह्मात्मा	भीतरी अङ्गों को शिथिल, अन्तःकरण शान्त बनाना	सुषुप्तावस्था में आ जाना	कारण शरीर में होना	धारणा और ध्यान का अभ्यास	विज्ञानमय और आनन्द-मय कोश
४	इति= मात्राओं का अभ्यासपूर्वक विराम	अव्यवहार्य एकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शांत शिव अद्वैत	आत्म[illegible] शुद्धस्वरूप का सम्पादन	तुरीयावस्था-केवलता में आना	प्राकृतिकशरीर सम्पर्क से अतिक्रांतब्राह्म शरीर में होना	समाधि (सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात)	कोशों से अतिक्रान्त हिरण्य-मय कोश या ब्राह्मकोश

वस्तुतः 'ओ३म' शब्द ऐसा व्याप्त है कि जिसको प्रत्येक मनुष्य चाहे वह आर्य हो या पौराणिक हो जैन हो या बौद्ध हो सिख हो नवीन वेदान्ती हो यवन हो या क्रिश्चियन (ईसाई) हो या नास्तिक हो ओ३म् का उच्चारण करते रहते हैं। कारणकि ओ३म् तो विना वर्णोच्चारण शिक्षाज्ञान के अनायास ही दैव-सिद्ध उच्चरित होता रहता है। इसका मार्ग सरल है सीधा है ओ३म=ओम्=अ+उ+म्——

अ	उ	म्
१	२	३

(१) जब कोई मनुष्य बोलना चाहता है तो उदरस्थान से वायु का उत्थान शब्द का अव्यक्त स्वरूप लेकर कण्ठ [जिह्वामूल] तक आकर स्थित हुआ ओठों के खुलने की प्रतीक्षा करता है ज्यों ही ओठ खुले त्यों ही ध्वनिरूप शब्द का स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् ओंठों के भली भांति खुलजाने पर जिह्वामूल से निकली हुई ध्वनि अ होती है। यह ध्वनि श्वास के साथ मुख से निकलती रहती है जब इस ध्वनि के करते हुए ओंठ बन्द करना चाहते हैं तब यह ध्वनि उ होकर सुनाई पडती है, एवं यह ध्वनि भी मुख से बाहिर श्वास के साथ जाती रहती है, जब इस ध्वनि के करते हुए ओंठ बन्द होते हैं यह ध्वनि म् होकर सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि का निवृत्तिमार्ग है।

(२) जब कोई मनुष्य बोलना चाहता है तो उदरस्थान से वायु का उत्थान शब्द का अव्यक्त स्वरूप लेकर कण्ठ [जिह्वामूल] तक

स्थित हुआ ओंठों के खुलने की प्रतीक्षा करता है, ज्यों ही ओंठों में खुलने की स्फुरणा हुई त्यों ही म् रूप ध्वनि की प्रकटता होती है जब ओंठ कुछ खुल जाते हैं तो उस ध्वनि का उ स्वरूप होजाता है और जब ओंठ भली भांति खुल जाते हैं तो उस ध्वनि का अ स्वरूप होजाता है। यह ध्वनि का प्रवृत्तिमार्ग है।

(२) जब ध्वनि अ स्वरूप को धारण किए हुए निवृत होना चाहती है तो निवृत्ति के लिये ओंठ बन्द करते समय उ स्वरूप में परिणत होती हैं तथा जब ध्वनि म् स्वरूप में स्थित हो आगे प्रवृत्त होना चाहती है तो ओंठों के खुलते समय उ स्वरूप में परिणत होती है।

बस अब "ओ३म्=ओम्=अ उ म्" क्या है मानो ध्वनि का आरम्भ करके अन्त कर देना है, जब कोई स्फूर्ति से ध्वनि का आरम्भ करते ही अन्त करता है तो एक साथ "अ+उ" मिल जाने से "ओ" सुनाई पड़कर अन्त में "म्" सुनाई देते ही विराम हो जाता है एवं "ओम्" स्वरूप है। या यों समझिये कि 'ओ३म्' एक स्वयंसिद्ध शब्द हैं तथा इस 'ओम्' में एक रहस्य की बात यह भी है कि 'म्-उ-अ' रूप ध्वनि का निवृत्तिसमवाय है न कि 'म्-उ-अ' ध्वनि का प्रवृत्तिसमवाय 'म्व'। कारण कि निवृत्तिक्रम 'अ-उ-म्'=ओम् की उपासना से स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाता है उन्नति सिद्ध है तथा अन्त के "इति त्रिमात्रा-न्यासपूर्वक विरामपद" में उन्नति की पराकाष्ठा है सो उन्नति की ओर जाना पुरुष का पौरुष है। ~~अतः स्वयंसिद्ध 'ओम्' ही~~ उपासनीय पद है। वास्तव में ओम् शब्द सिद्धसम्बन्धता से

महत्त्वपूर्ण है, जैसे आचार्य ने सम्बन्धप्रदर्शक मन्त्रों में स्फुट किया है कि "म्" मापक और अन्तक है "उ" उत्कृष्ट और उभय है "अ" आप्त और आदि है अर्थात्—

अमापक-मापक — आप्त-मापक — आप्त-अनाप्त

अमापक	मापक	आप्त	उत्कृष्ट	मापक	आप्त	अनाप्त

अ — उ — म् = अ — उ — म् = अ — उ — म्

अनन्तक	अन्तक	आदि	उभय	अन्तक	आदि	अनादि

अनन्तक--अन्तक — आदि--अन्तक — आदि--अनादि

ऊपर का प्रवृत्तिमार्ग है नीचे का निवृत्तिमार्ग है। यह चित्र शब्द-विज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है। शब्द-विज्ञान या वर्ण-माला का मूलस्वरूप 'ओ३म्' ही है। वास्तव में 'ओ३म्' शब्द महान् है। इसका अर्थ भी महान् है। तथा 'शब्द-अर्थ' का सम्बन्ध भी महान् है एवं इनका ज्ञाता या उपासक भी महान् हो जाता है। बस यही शब्दार्थ सम्बन्ध की परमार्थता और पुरुष की परमपुरुषार्थता है ॥१२॥

माण्डूक्योपनिषद् समाप्त

नवम्बर १९४८ ई०
कार्तिक २००४ वि०

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

१
२
३
४

दो नवीन पुस्तकें

आर्षयोगप्रदीपिका

और

वैदिक योगामृत

इस 'उपनिषद्-सुधासार' पुस्तक के लेखक श्री स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक की दो और नवीन पुस्तकें एक "आर्षयोग-प्रदीपिका" जिसमें-व्यासभाष्यसहित पातञ्जल योगदर्शन का सरल सार गर्भित विस्तृत भाषानुवाद है छप कर तैयार है। दूसरी "वैदिक योगामृत" जिसमें वेद के योगविषयक रहस्यमय उपयोगी उपदेश हैं शीघ्र प्रकाशित होने वाली है।